प्रकाशक—
श्री साधुमार्गी-जैन
पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के
सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल
रतलाम (मालवा)

मुद्रक—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
रतलाम.

दो शब्द ।

'व्याख्यान सार संग्रह पुस्तक माला" का यह 'सुबाहुकुमार' नामक सातवाँ पुष्प पाठकों की सेवा में समर्पण करते हुए मण्डल को बड़ा आनन्द हो रहा है। धर्मप्रेमी पाठकों की ओरसे समय समय पर मण्डल को जो प्रोत्साहन मिलता रहा है, उसके लिये मण्डल पाठकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करता है। आशा है कि कृपालु पाठक इसी प्रकार पूज्य श्री के व्याख्यानों में से प्रकाशित पुस्तकों को अपना कर मण्डल का उत्साह बढ़ाते रहेंगे, जिससे मण्डल उनकी अधिकाधिक सेवा करने में समर्थ हो सके।

मण्डल, अपने उन सहायदाताओं को कदापि नहीं भूल सकता, जिनकी विशेष कृपा से पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराज के व्याख्यान संग्रह कराने एवं उनमें से पुस्तकें प्रकाशित करने में, मण्डल समर्थ हो रहा है। मण्डल आशा करता है कि

धर्म प्रचार में उत्साही सहायकगण, इस कार्य को प्रचलित रखने के लिये पूर्व की भाँति सहायता करते रहेंगे।

अन्त में मण्डल यह निवेदन कर देना उचित समझता है कि पूज्य श्री के व्याख्यान तो साधु-भाषा में शास्त्रसम्मत ही होते हैं, लेकिन मानव-स्वभावानुसार कार्यकर्त्ताओं से भूल होना स्वाभाविक है। ऐसी भूलों की ज़िम्मेदारी भी कार्यकर्त्ताओं पर ही हो सकती है, पूज्य श्री पर नहीं। अतः किसी त्रुटि के दृष्टिगोचर होने पर पाठकगण सूचित करने की कृपा करें। जिन पाठकों की ओर से ऐसी सूचना प्राप्त होगी, मण्डल उनका आभार मानेगा और यथा सम्भव त्रुटि दूर करने की चेष्टा भी करेगा। किमाधिकम्।

रतलाम,
ज्येष्ठी पूर्णिमा
सं. १९८९

भवदीय,
बालचन्दजी श्रीश्रीमाल, वरद्भान पीतलिया,
सेक्रेटरी, प्रेसीडेण्ट,

श्री साधुमार्गी-जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी
महाराज के सम्प्रदाय का हितेच्छु
श्रावक मण्डल,

❀ ॐ
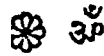
श्री वीतरागायनमः।

सुबाहुकुमार।

१

कथारम्भ

मगध देश में राजगृह नाम का एक नगर था। भगवान महावीर के समय में यह नगर अपनी रचना के लिये बहुत प्रसिद्ध था। यहां के निवासी धन धान्य और धर्म से सुखी रहते थे। राजगृह नगर के बाहर गुणशील नाम का एक बाग था। उस बाग में भगवान महावीर के शिष्य श्री सुधर्माचार्य स्वामी—जो अनेक गुणों से अलंकृत चौदह पूर्व के ज्ञाता और चारों ज्ञान से युक्त थे—अपने पांच सौ शिष्यों सहित पधारे। बाग में,

मुनियों के ठहरने योग्य स्थान देख-तथा ठहर कर—अपने शिष्यों सहित श्री सुधर्माचार्य स्वामी तप संयम में विचरने लगे।

सुधर्मा स्वामी के पधारने की खबर राजगृह नगर में फैली। राजगृह नगर के लोग सुधर्मा-स्वामी के पधारने का शुभ समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। सब लोग एकत्रित होकर सुधर्मा स्वामी को वन्दना करने के लिये उसी गुणशील नामक बाग में आये। सब लोगों के वन्दना कर चुकने पर सुधर्मा स्वामी ने आये हुए जन समुदाय को धर्मोपदेश दिया। सुधर्मा स्वामी के दिये हुए धर्मोपदेश को श्रवण करके वह जन-समुदाय राजगृह नगर को लौट गया।

नगर निवासियों के लौट जाने पर, श्री सुधर्मास्वामी के प्रधान शिष्य श्री जम्बू स्वामी के मन में पदार्थ विज्ञान (सुख का कारण) जानने की अभिलाषा हुई। उन्हें यह विचार हुआ कि भगवान महावीर ने दुःख का कारण तो बताया है—जो मुझे मालूम है-परन्तु सुख का कारण क्या है?

संशय ही ज्ञान का दाता है और संशय ही आत्मा का पतन कर्त्ता भी है। विना संशय के पूरी तरह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जितना अधिक संशय होगा प्राप्त-ज्ञान उतना ही अधिक पुष्ट भी होगा। परन्तु अनुचित संशय, या वह संशय-जिसको समाधान करके न मिटाया गया हो-आत्मा को गिरा देता है। इस लिये एक अपेक्षा से तो संशय अच्छा है और एक अपेक्षा से बुरा।

संशय का विपक्षी विश्वास है। संशय का नाश उस समय तक कदापि नहीं हो सकता, जब तक कि विश्वास न हो। चाहे संशय को मिटाने के लिये ठीक बात कही गयी हो, सच्चा उपाय बताया गया हो, परन्तु जब तक विश्वास न होगा, वह ठीक बात और सच्चा उपाय संशय को मिटाने में समर्थ न हो सकेगा। इसलिये संशय के साथ ही विश्वास की भी आवश्यकता है। जिस आत्मा में संशय तो है, परन्तु विश्वास नहीं है, उस आत्मा का पतन हो जाता है।

अपने हृदय में उत्पन्न संशय को मिटाने के लिये श्री जम्बूस्वामी, श्री सुधर्मास्वामी की सेवा में उपस्थित हुए। सुधर्मा स्वामी के समीप पहुँच कर जम्बूस्वामीने अपने गुरु सुधर्मास्वामी की तीन बार प्रदक्षिणा की और स्तुति नमस्कार करके सन्मुख बैठ गये। पश्चात् हाथ जोड़ कर जम्बू स्वामीने विनयपूर्वक सुधर्मास्वामी से कहा-हे भगवन्! भगवान महावीर द्वारा कथित उन कारणों को तो मैंने सुना है, जिनका परिणाम दुःख है, परन्तु भगवान ने उन कारणों का वर्णन किस प्रकार किया है, जिनका परिणाम सुख है? मैं आपके द्वारा यह जानने का इच्छुक हूँ, कि सुख कैसे मिलता है? अर्थात् सुख प्राप्त होने का उपाय क्या है?

जम्बू स्वामी की विनयभक्ति और उनकी इच्छा को देख सुन कर सुधर्मा स्वामी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने जम्बू स्वामी के प्रश्न के उत्तर में पुण्य का फल सुख और उस के

प्राप्ति के उपाय को भाव रूप में न कह कर कथा द्वारा समझाना उचित समझा। कथा द्वारा कही हुई बात एक तो समझ में जल्दी आती है। दूसरे बात के साथ ही साथ आदर्श भी मालूम हो जाता है और उस विषय की सब छोटी छोटी बातें भी समझ में आ जाती हैं। इस प्रकार विचार कर सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कहने लगेः—

हे जम्बू! इसी अवसर्पिणी काल के इसी चौथे आरे में हस्तिशिखर नाम का एक नगर था। अनेक विशाल भवनों से विभूषित, धन धान्य से समृद्ध और जन समूह से भरा हुआ वह नगर, बड़ा ही सुन्दर था। वहां के निवासी सब प्रकार से सुखी तथा विश्वासपात्र थे। कृषि भी खूब होती थी। कृषक लोग कृषि द्वारा ईख, जौ, चांवल आदि अन्न बहुत पैदा करते थे। नगर में गायें भैंस आदि दूध देने वाले पशु भी अधिक थे। बाग कुएं तालाब आदि से वह नगर चारों ओर से सुशोभित था। उस में सभी तरह के लोग जैसे व्यापारी कृषक राजकर्मचारी नर्त्तक गायक मल्ल विदूषक तैराक ज्योतिषी चित्रकार कुम्हार आदि-रहते थे। नगर का बाजार बहुत ही सुहावना था, जिस में वहां के व्यापारी अपना व्यापार करते रहते थे। वहां के निवासी बड़े ही सहृदय और सज्जन थे। चोर उचके डाकू आदि का तो उस नगर में अभाव सा था। नगर के बाहर ईशान कोण में पुष्पकरण्ड नामका एक उद्यान था, जो नगर की रमणीयता को बढ़ा रहा

था। वह उद्यान नन्दनवन के समान रमणीय तथा सुखदायक था। उस उद्यान में अनेक तरह के सुन्दर-सुन्दर वृक्ष थे। उद्यान सभी ऋतुओं में फल फूल से भरा रहता था। उद्यान में कृतवनमालप्रिय नाम के एक यक्ष का यक्षायतन था जो चारों ओर से सघन तथा ऊंचे वृक्षों से घिरा हुआ था और उन वृक्षों पर भौंरे सदा गुंजार किया करते थे।

सुधर्मास्वामी के इस वर्णन से भारत की प्राचीन स्थिति का भी पता चलता है। आज तो यह स्थिति प्रायः भारतीयों की कल्पना से भी परे की हो रही होगी, परन्तु आज की स्थिति को दो सौ वर्ष पूर्व के इतिहास से मिलाकर देखा जावे, तथा उसी हिसाब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की स्थिति का अन्दाज़ किया जावे तो मालूम हो जावेगा, कि वास्तव में यह बात अत्युक्ति-पूर्ण नहीं, किन्तु साधारण है।

हे जम्बू! उस हस्तिशिखर नगरमें अदीनशत्रु नामका राजा था। वह राजा क्षत्रिय था। हस्तिशिखर का राज्य उसके पूर्वजों से उसे प्राप्त हुआ था। सुन्दर शोभनीय तथा राज-लक्षणों-युक्त वह अदीन शत्रु राजा, सब गुणों से सम्पन्न था। राज-नीति का धुरन्धर जानकार, राजनियमों के बनाने में चतुर, तथा मर्याद और प्रजा का पालन करने वाला था। स्वभाव से वह दयालु तथा नम्र था, परन्तु अपराधियों को दण्ड देने-दुष्टों का विनाश करने-और शत्रुओं का मान मर्दन करने में क्रूर भी था। वह अदीन शत्रु राजा सब तरह से सम्पन्न था।

भूमि हाथी घोड़े सोना चांदी सेना दास दासी आदि सब कुछ उस के यहां थे। अपने शत्रुओं को उसने निस्तेज कर रखा था। उसके बल पराक्रम आदि के सामने किसी राजा की यह शक्ति न थी कि गर्दन उठा सके। प्रबन्ध की विशेषता के कारण उस नृपोत्तम अदीनशत्रु के राज्य में दुष्काल महामारी चोर डाकू आदि के उपद्रव प्रायः नहीं होते थे। सदा सुभिक्ष बना रहता था। राजा अदीनशत्रु इस प्रकार अपने पैतृक राज्य का आनन्दपूर्वक शासन करता था।

राजा अदीनशत्रु के धारिणी नाम की पटरानी थी। धारिणी बहुत ही सुन्दर सर्वांगसम्पन्ना तथा सुलक्षणा थी। उसका मुख शरदचन्द्र के समान निर्मल और सौम्य था। उसका शृंगार सहित वेश, देखने वाले के चित्त को प्रसन्न करता था। धारिणी रानी बोलचाल में कुशल और लोक-व्यवहार में चतुर थी। अपने पति के प्रति वह सदा अनुरक्त रहा करती थी, तथा तन मन से सेवा किया करती थी। इस प्रकार अपने पति की प्रसन्नता में प्रसन्न रहने वाली धारिणी रानी आनन्दपूर्वक दिन व्यतीत करती थी।

कई लोग कहा करते हैं, कि साधुओं को स्त्री-सौन्दर्य और सांसारिक बातों के वर्णन की क्या आवश्यकता! इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त है, कि वास्तविक बात को बिना बतलाये काम नहीं चलता। यदि वास्तविक बात-स्त्री सौन्दर्य या सांसारिक बातों का वर्णन साधुओं के लिये वर्ज्य

होता, तो गणधर लोग हस्तिशिखर नगर, अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी आदि के प्रशंसात्मक वर्णन में बड़े बड़े पाठ न देते, अपितु उनका अस्तित्व बतला देना ही पर्याप्त समझते। लेकिन गणधरों ने सब बातों का-फिर वे बातें चाहे सांसारिक विषय की हों, या स्त्री-सौंदर्य विषय की-पूरी तरह वर्णन किया है। केवल धारिणी रानी के वर्णन में ही कितना और किस भावार्थ का पाठ दिया है, यह देख लेने मात्र से मालूम हो जावेगा, कि साधुओं के लिये वास्तविक वर्णन वर्ज्य नहीं है। धारिणी रानी के विषय में शास्त्र पाठ है—

तस्स णं अदीणसत्तुस्स रण्णो धारिणी णामं देवी सुकुमाल-पाणिपाया अहिणपडिपुण्ण पंचिंदियसरीरा लक्खणवंजण गुणोववेया माणुम्माणप्पमाणपडि पुण्णसुजायसव्वंग-सुंदरंगी ससिसोमाकारकांत पियदंसणा सुरूवा करयल परिमिय पसत्थतिवलियवलियमज्झा कुण्डलुल्लिहियगंड-लेहा कोमुइयरयणियर विमल पडिपुण्ण सोमवयणा सिंगा-रागार चारुवेसा संगयगयहसियभणिय चिहिय विलाससल-लिय संलावणि उणजुत्तो वयार कुसला पासादीया दरि-सणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा अदीणसत्तुण्णं रण्णासद्धि अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिस रसरूव गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोगे पच्चुब्भवमाणी विहरति।

भावार्थ--उस अदीनशत्रु राजा की धारिणी नाम की रानी के हाथ पैर बड़े ही कोमल थे। उसका शरीर सब लक्षणों से सम्पन्न और परिपूर्ण पांचो इन्द्रियों से युक्त था। उसके शरीर में स्वस्तिका चक्र आदि लक्षण और तिल आदि व्यंजन थे। उसके शरीर के सब अंग मान उन्मान और प्रमाण के अनुसार ही बने थे। उसका चन्द्रमा के समान-सौम्य और मनोहर अंग वाला रूप देखने वालों को बड़ा ही प्यारा लगता था। उसकी त्रिवलियुक्त कमर मुट्ठी में आजाती थी। गालों की पत्र रचना, कानों के कुण्डल से चमकदार होगई थी। उसका मुख कार्तिक में उदय होने वाले चन्द्रमा की चंद्रिका ऐसा था। उसका वेश, शृंगार-रस का स्थान सा हो गया था। उसका चलना हंसना चेष्टा और कटाक्ष उचित था। वह प्रसन्नतापूर्वक परस्पर भाषण करने में कुशल तथा लोक-व्यवहार में चतुर थी। वह मनोहर तथा दर्शनीय थी इस लिये देखने वालों का चित्त उसे देखते ही प्रसन्न हो जाता था। वह, अदीनशत्रु राजा में अनुरक्त थी। उसका शब्द रूप रस गंध और स्पर्श प्रिय था। वह मनुष्यों के पांच प्रकार के काम भोगों को भोगती हुई रहती थी।

मतलब यह कि वास्तविक बात का वर्णन करने से साधुओं को नहीं रोका गया है। क्योंकि ऐसी बातें भी प्राय पुन्वानी प्रकट करती हैं। फिर ऐसे वर्णन से जिसका जैसा अध्यवसाय होगा, वह वैसा--पुण्य या पाप का-फल प्राप्त

करेगा। अच्छे अध्यवसायवाला पापस्थान में भी पुण्य-प्रकृति बांध सकता है, और बुरे अध्यवसायवाला धर्मस्थान में भी पाप-प्रकृति बांध सकता है। इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक नगर में दो मित्र रहते थे। उसी नगर में कुछ महात्मा भी आये थे और एक वेश्या भी आयी थी। एक ही समय पर एक जगह तो महात्मा का उपदेश होने वाला था और दूसरी जगह वेश्या का नाच। एक मित्र ने दूसरे मित्र से कहा कि चलो उस नयी आयी हुई वेश्या का नाच देखने चलें। दूसरे मित्रने कहा—नहीं, मैं नाच देखने नहीं चलूंगा, किन्तु महात्मा का उपदेश सुनने जाऊंगा। दोनों मित्र अपनी अपनी रूचि के अनुसार दोनों स्थान पर गये।

वेश्या का नाच हो रहा था। वेश्या चारों ओर घूम घूम कर कटाक्ष-पूर्वक सब की ओर देखती हुई नाच रही थी। लोग वेश्या की प्रशंसा के पुल बांधे देते थे। उसी समय एक मित्र उस नाच की महफिल में पहुंचा। वेश्या को इस प्रकार नाचते और लोगों को उसकी प्रशंसा करते देखकर उस मित्र को विचार हुआ कि आत्मा तो इस वेश्या का भी शुद्ध है, परन्तु न मालूम किन पापों के कारण से इसके आत्मा पर अज्ञान का आवरण है। इसी से यह अपने इस सुन्दर शरीर को विषय भोग में लगा रही है, और थोड़े से धन के लोभ में अपना शरीर कोढ़ी को सौंपने में भी संकोच नहीं करती है।

हाय ! हाय !! यह तो साक्षात ही नर्क की खान है। ये देखने वाले भी कैसे मूर्ख हैं, जो इसके चारों ओर इस प्रकार लगे हुए हैं, जैसे मरे हुए पशु को कुत्ते घेर लेते हैं। यद्यपि यह वेश्या किसी व्यक्ति विशेष को नहीं देखती है--सब को उल्लू बनाने के लिये उनकी तरफ देखती है-फिर भी ये सब लोग अपने अपने मन में यही समझ रहे हैं कि यह मुझे ही देख रही है। मैं इस पाप स्थान में कहां आगया ! मित्रने कहा था, फिर भी मैं महात्मा का उपदेश सुनने के लिये नहीं गया। धन्य है मित्र को ! जो इस समय महात्माओं के पास बैठा हुआ धर्मोपदेश श्रवण कर रहा होगा और अपना कल्याण साधता होगा।

वेश्या की महफिल में गया हुआ मित्र तो इस प्रकार विचार कर रहा है तथा महात्माओं का उपदेश सुनने के लिये गये हुए मित्रको धन्य मान रहा है, परन्तु जो मित्र महात्माके समीप गया था, वह कुछ और ही विचारता है। जिस समय वह महात्माओं के समीप पहुँचा, उस समय महात्मा लोग विषयों के प्रति घृणोत्पादक वैराग्य का उपदेश सुना रहे थे। इस मित्र को महात्माओं का उपदेश रूचिकर नहीं हुआ, इससे वह अपने मनमें कहने लगा कि मैं कहाँ आगया। मित्रने कहा था, फिरभी मैं नाच देखने नहीं गया। धन्य है मित्रको, जो इस समय महफिल में बैठा हुआ आनन्दसे नाच देख रहा होगा और गाना सुन रहा होगा।

दोनों मित्र इस प्रकार अपने अपने मनमें विचार कर रहे हैं, और अपने आपको निन्दते हुए दूसरे मित्र की प्रशंसा कर रहे हैं। वेश्या के यहां गया हुआ मित्र, वेश्या के नाच को घृणा-पूर्वक देखता है उसका मन साधुओं के उपदेश में लगा हुआ है, और साधुओं के यहां गये हुए मित्र का मन वेश्या के नाचमें लगा हुआ है तथा वह नाच देखने के लिये गये हुए मित्रकी प्रशंसा कर रहा है! इस तरह वेश्या के नाच-जो पापस्थान है में बैठा हुआ मित्र तो पुण्यप्रकृति बांध रहा है और साधुके स्थान-जो धर्म स्थान है-में बैठा हुआ मित्र पापप्रकृति बांध रहा है। क्योंकि पाप-पुण्य या धर्म अध्यवसाय पर निर्भर है और वेश्या के नाचमें बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय अच्छे तथा साधुओं के उपदेश स्थान में बैठे हुए मित्र के अध्यवसाय बुरे हैं।

तात्पर्य यह कि पुण्य पाप अध्यवसाय पर निर्भर है, वर्णित बात पर नहीं। इसलिये किसी भी बात का वर्णन करना अनुचित नहीं है। हां, वर्णन करने का उद्देश्य शुद्ध और पाप से बचाने का होना चाहिए पुण्यवानी का प्रारंभ संसार से ही होता है, इसलिये संसार की बातों को पापही पाप मान कर उनकी ओर ध्यान न देना उचित नहीं। प्रत्येक सुधार तभी हो सकता है, जब मूल भी सुधारा जावे। संयमका मूल संसार है। यदि संसार को सुधारने की ओर से उपेक्षा की जावे-संसार में होने वाले कार्यों में से किसमें पाप और किस-

में धर्म या पुण्य तथा किसमें महापाप और किसमें अल्प पाप होता है, यह न बताया जावे· पाप· कार्य को रोक कर धर्म कार्य की वृद्धि का उपाय न दिखाया जावे—तो ऐसे संसार से निकल कर होने वाले साधु, अपने कर्त्तव्य का पूरी तरह पालन नहीं कर सकते। क्योंकि उन्हें जब प्रारंभ से ही कर्त्तव्य पालन की शिक्षा नहीं मिली है, तो वे अब इस नीति को ठीक तरह से कैसे निभा सकते हैं? इसलिये प्रत्येक बात पर ध्यान देकर विधि या निषेध बताना साधु का कर्त्तव्य है।

२
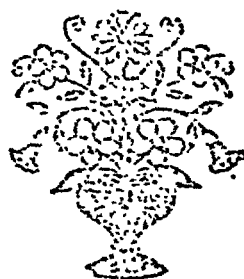
स्वप्न

निद्रावस्था मृत्यु काल का नमूना है और स्वप्नावस्था पुनर्जन्म का नमूना है। निद्रावस्था में जिस प्रकार शरीर के निश्चल पड़े रहने पर भी आत्मा स्वप्न-सृष्टि में जन्म लेता है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर और शरीर के निश्चल हो जाने पर भी आत्मा दूसरी जगह जन्म लेता है। यदि निद्रावस्था और स्वप्नावस्था पर मनुष्य भली प्रकार विचार करे, तो उसे आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विषय में कोई सन्देह न रहे।

हे जम्बू! धारिणी रानी अपने सुन्दर सुसज्जित तथा सुगन्धित शयनागार में कोमल शय्या पर सो रही थी। वह न तो गाढ़ निद्रा में ही थी और न जागती रही थी! इतने में उसने एक कल्याणकारी स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने यह देखा कि एक केसरी-सिंह- जिसकी गर्दन पर सुन्दर-सुन्दर सुनहरी बाल बिखर रहे हैं,दोनो आंखें चमकीली हैं,कंधे उठे हुए हैं पूंछ टेढ़ी हो रही है-जंभाई(बगासी)लेता हुआ आकाशसे उतर कर मेरे मुँह में घुस गया है। इस स्वप्न को देखने से धारिणी रानी की नींद खुल गई। शुभ स्वप्न के देखने से धारिणी रानी

को बहुत प्रसन्नता हुई। वह शय्या से उठ कर बैठ गई और अपना स्वप्न पति को सुनाने के लिये पति की शय्या की ओर चली। चपलता रहित स्थिर मन तथा हंस गति से चलती हुई, धारिणी रानी अदीन शत्रु की सेज के समीप पहुंची।

शास्त्र के कथन से यह प्रकट है कि अदीनशत्रु राजा और धारिणी रानी एक स्थान पर नहीं किन्तु पृथक्--पृथक् सोते थे। शास्त्र में आयी हुई दूसरे स्थान की कथाओं से भी ऐसा ही प्रकट है। इससे सिद्ध है कि उस समय के सभी लोगों की यह नीति थी। इस नीति के पालन करने से ही दम्पति स्वस्थ रहते थे तथा सन्तान सशक्त और दीर्घजीवी होती थीं। आज इस नीति का पालन कहीं चाहे होता हो, नहीं तो प्रायः इस नीति के विरूद्ध ही कार्य होता है। इसका परिणाम भी वही हो रहा है, जो नीति भंग करने का होता है। यही कारण है कि आज के स्त्री पुरुष दुर्बल अनेक रोगों से घिरे हुए निस्साहसी और उत्साह हीन दिखाई देते हैं। ऐसे स्त्री पुरुष की सन्तान भी बलवान् और दीर्घजीवी कैसे हो सकती है। इस लिये सन्तान को न तो उत्पन्न होते ही देर लगती है, न मरते ही।

अपने पतिके समीप पहुँच कर धारीणी रानीने उन्हें मधुर और प्रिय शब्दों द्वारा जगाया। अदीनशत्रु राजा की नींद खुल गई। वह उठ कर बैठ गया। अपने सामने रानीको खड़ी अभिवादन करते देख, राजा अदीन शत्रुने, रानी को पास ही

पड़े हुवे रत्न पंडित भद्रासन पर बैठने की आज्ञा दी। पति की आज्ञा पाकर धारिणी रानी आसन पर बैठ गई। चलन के श्रम को मिटा, तथा हर्ष को रोक कर धारिणी रानी सरल मधुर और नम्रता भरे शब्दों में राजा अदीन शत्रु से कहने लगी-नाथ! मैं अभी अपनी सेज पर सोरही थी, तब मैंने यह स्वप्न देखा कि एक विशाल सिंह जंभाई लेता हुआ आकाशसे उतर कर मेरे मुँह में घुस गया। इस स्वप्न को देखते ही मेरी नींद खुल गयी। कृपा करके यह बताइये कि इस शुभस्वप्न का क्या फल होगा।

धारिणी रानी के स्वप्न को सुन कर राजा अदीनशत्रु को बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ विचार करने के पश्चात् राजा ने धारिणी रानी से कहा प्रिये! तुम्हारा यह स्वप्न बहुत कल्याण-कारी है। इस स्वप्न का फल अर्थ लाभ, पुत्र लाभ, और राज्य लाभ है। अर्थ और राज्य की तो तुम्हें कमी नहीं है, यदि कमी है तो केवल पुत्र की। मेरी समझ से इस स्वप्न के फल स्वरूप तुम्हारी कोख से एक ऐसे पुत्र का जन्म होगा, जो प्रियदर्शी, यशस्वी, वीर कुल का सूर्य और सर्वगुण सम्पन्न होगा।

पति के मुख से अपने देखे हुए स्वप्न का यह शुभ फल सुन कर रानी धारिणी को बहुत प्रसन्नता हुई। धारिणी ने पति को पुनः अभिवादन किया और धन्यवाद देकर तथा असमय में जगाने के लिये क्षमा प्रार्थना कर के प्रसन्न मन

मन्द गति से अपने शयन स्थान को लौट आई। सेज पर बैठकर वह धर्म का स्मरण करने लगी क्यों कि पुनः सो जाने से इस शुभ स्वप्न का फल किसी दूसरे दुस्वप्न से नष्ट हो जावेगा। यह विचार कर धारिणी रानी ने शेष रात्रि धर्म जागरण में ही वितायी सोयी नहीं।

प्रातः काल होने पर राजा अदीनशत्रु ने अपने सेवकों को बुला कर सभा भवन को विशेष रूप से तथा शीघ्र सजाने की आज्ञा दी। सेवकों को यह आज्ञा देकर अदीनशत्रु ने हाथ मुँह धोकर, व्यायाम शाला में जा व्यायाम की। पश्चात् सुगन्धित और शक्ति दाता तेल का मर्दन कराया। थकावट दूर हो जाने पर राजा अदीनशत्रु व्यायाम शाला से निकल स्नानागार में गया जहां भली प्रकार स्नान किया। स्नान कर चुकने पर शरीर में सुगन्धित चन्दन केसर का लेप किया और सुन्दर वस्त्राभूषण पहिनकर फूल मालायें धारण की। शरीर पर मुकुट रख, हाथों में वीर * वलय पहन, गले में दुपट्टा डाल, राजा अदीनशत्रु स्नानागार से बाहर निकला। स्नानागार के बाहर मांडलिक राजा-मंत्री--सेनापति, सेठ साहूकार दूसरे राजाओं के दूत आदि लोग राजा की प्रतिक्षा में खड़े थे। राजा के निकलते ही जयघोष के साथ सबने राजा का उचित

---

* वीरवलय उन कड़ों का नाम है, जिन्हें राजा लोग अपना दर्प बताने के लिये पहिनते थे, कि कोई दूसरा राजा यदि मुझसे अधिक शक्ति रखता हो, तो इन कड़ों को मुझसे छीनले।

अभिवादन किया। इन सब लोगों से घिरा हुआ राजा ऐसा जान पड़ता था, जैसे ताराओं के बीच में चन्द्रमा।

इस प्रकार सब लोगों सहित राजा अदीनशत्रु सभा भवन में आ पूर्व की ओर मुंहकर के सिंहासन पर बैठा। राजाने सिंहासन के समीप ही मंगल द्रव्य रख या उनपर आसन बिछवाये। रानी धारिणी भी आकर निर्योचित स्थान पर रखे हुए भद्रासन पर बैठी।

सब के यथा स्थान बैठ जाने पर अदीनशत्रु ने स्वप्न शास्त्रियों को बुला लाने के लिये सेवकों को आज्ञा दी। राजा की आज्ञा पाकर सेवक लोग स्वप्नशास्त्रियों को बुला लाये। राजा के सामने पहुँच कर स्वप्न शास्त्रियों ने 'जय हो' कह कर राजा को आशीर्वाद दिया। राजा अदीनशत्रु ने भी स्वप्न शास्त्रियों की वन्दना पूजा की और सम्मान सहित उन्हें मंगल द्रव्य रख बिछे हुए आसनों पर बैठाया।

स्वप्न शास्त्रियों के बैठ जाने और सावधान हो जाने पर राजा अदीनशत्रु ने धारिणी रानी का स्वप्न स्वप्न-शास्त्रियों को सुना कर उनसे स्वप्न का फल पूछा। स्वप्न पाठकों ने गणित करके तथा आपस में अपने अपने गणित के फल को मिला कर राजा अदीनशत्रु से कहा--स्वामिन्! स्वप्न शास्त्र में हमने बहत्तर शुभ स्वप्न देखे हैं। इन बहत्तर शुभ स्वप्नों में बयालिस साधारण फल के देने वाले हैं और तीस स्वप्न महान् फल के

देने वाले हैं। जब अर्हंत और चक्रवर्ती अपनी माता के गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएं इन तीस महान् फलदायक स्वप्नों में से चौदह स्वप्नों को देख कर जागती हैं। जब वासुदेव गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएं इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं सात, और जब बलदेव गर्भ में आते हैं, तब उनकी माताएं इन चौदह स्वप्नों में से किन्हीं चार स्वप्नों को देख कर जागती हैं। इसी प्रकार माण्डलिक राजा के गर्भ में होने पर उनकी माताएं इन चौदह स्वप्नों में से किसी एक स्वप्न को देख कर जागती हैं। रानी धारिणी भी इन्हीं चौदह स्वप्नों में से एक स्वप्न देखकर जागी है, इसलिये इनके गर्भ से पुत्र का जन्म होगा। वह बालक बाल्यावस्था का त्याग करते ही सब कलाओं का ज्ञाता होगा। युवा अवस्था में प्रवेश करने पर या तो वह दानी वीर और राज्य को बढ़ाने वाला राजा होगा, या आत्म कल्याण करने वाला मुनि होगा।

पहिले के राजाओं को पुत्र के विषय में दोनों ही बातें आनन्द देने वाली होती थी अर्थात् वीर बन कर राज्य बढ़ाने वाले पुत्र को भी वे अच्छा समझते थे, और मुनि बन कर आत्म कल्याण करने वाले पुत्र को भी। यह जान कर उन्हें किंचित भी खेद नहीं होता था, कि हमारा पुत्र राज्य को त्याग मुनि होगा। बल्कि राजसुख भोगने वाले पुत्र की अपेक्षा राजत्यागी पुत्र को पाकर वे अपने आपको अधिक गौरवान्वित मानते थे।

स्वप्न पाठकों की बात सुन कर राजा अदीनशत्रु बहुत प्रसन्न हुआ। उसने स्वप्न शास्त्रियों को वस्त्र आभूषण आदि दान देकर सन्मान सत्कार के साथ विदा किया। पश्चात् रानी धारिणी के समीप जाकर राजा अदीनशत्रु ने स्वप्न पाठकों द्वारा कथित स्वप्न का फल रानी धारिणी को सुनाया। यद्यपि रानी धारिणी स्वप्न का फल पाठकों के मुख से पहिले सुन चुकी थी, फिर भी अपने पति के मुखसे उसने बड़े हर्ष से सुना। स्वप्न के फल को पति के मुख से सुन समझ कर तथा यह जान कर कि मेरे गर्भ में बालक है, धारिणी रानी बहुत प्रसन्न हुई।

अपने गर्भ में बालक को जान कर धारिणी रानी ने ऐसी वस्तुओं का-जिनके भोगोपभोग से गर्भ को कष्ट हो सकता था,-भोगोपभोग में लेना त्याग दिया। उसने अधिक सर्द, अधिक गर्म, अधिक तीखे, अधिक कडुए, अधिक कसायले, अधिक खट्टे और अधिक मीठे पदार्थों का भोजन करना छोड़ दिया। इन के स्थान पर वह गर्भ की दया के लिये ऐसे पदार्थों का भोजन करती और ऐसी वस्तुओं का उपभोग करती, जो देश काल के अनुसार हों, अपितु गर्भ के लिये हानि कर अपथ्य और उसका नाश करने वाली न हों।

दम्पति को यह अधिकार तो है कि ब्रह्मचर्य पालन करके सन्तानोत्पत्ति के प्रपंच में ही न पड़ें, परन्तु यह अधिकार नहीं है कि गर्भ स्थिति के पश्चात् गर्भ की व्यवस्था न करें। जिस

प्रकार कैदी-और विशेषतः वह कैदी, जिसे कि अपने हानि-लाभ का ज्ञान नहीं है-की व्यवस्था का भार जेल अधिकारियों पर होता है, उसी प्रकार गर्भ के बालक की व्यवस्था का भार माता पिता पर होता है कैदी की व्यवस्था न करने वाला जेल अधिकारी जैसे निर्दयी कहलाता है, उसी तरह गर्भ के बालक की व्यवस्था न करने वाली-गर्भ की उपेक्षा करने वाली-स्त्री भी निर्दयिनी कहलाती है। इसलिये गर्भ के बालक की हर तरह रक्षा करना और उस पर अनुकम्पा करना, गर्भवती का कर्त्तव्य है। इसी प्रकार जो पुरुष गर्भ का ध्यान न करके गर्भ को हानि पहुँचाने वाले कार्य करता है, वह भी हत्यारा है।

गर्भवती स्त्री के लिये तपस्या करना वर्ज्य है। पेट में गर्भ के होते हुए कुछभी तपस्या करनी, अनुकम्पा का नाश करना है। क्योंकि गर्भ का भोजन माता के भोजन पर निर्भर है। भगवती सूत्र में भी गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने यही कहा है कि माता के भोजन में से ही गर्भ के बालक को भोजन मिलता है। जब माता के भोजन में से ही गर्भ के बालक को भोजन मिलता है तो माता के उपवास करने पर गर्भ को भोजन न मिलना स्वाभाविक है। माता तो अपने आप की हानि और लाभ को जानती है, वह तो स्वेच्छापूर्वक उपवास करती है परन्तु गर्भ का बालक अपनी हानि लाभ को नहीं जानता और उसे अनिच्छापूर्वक भोजन से वंचित

रहना पड़ता है। जो जीव अपने आश्रित है उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध भात पानी से वंचित रखना ही भात पानी विच्छेद नाम का अहिंसा व्रत का अतिचार है। इसलिये गर्भवती को तपस्या करने का अधिकार नहीं है। मूर्खतावश कई गर्भवती स्त्रियें गर्भ की उपेक्षा करके तपस्या करती हैं। इस मूर्खता के कार्य का परिणाम भी बड़ा भयंकर होता है। कुछ घटनाएं तो ऐसी तक सुनी गयी हैं कि गर्भवती के तपस्या करने से गर्भ का बालक भूख के मारे पेट में ही मर-गया, जिससे गर्भवती को भी अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा।

बालक पर गर्भ के समय के संस्कार बहुत ज़बरदस्त प्रभाव जमाते हैं। गर्भ पर माता के कार्य का नहीं किन्तु माता की भावनाओं का भी प्रभाव पड़ता है। माता की जैसी भावनाएं होंगी गर्भ के संस्कार भी वैसे ही होंगे। भारतीय सन्तान की दुर्बलता के कारणों में से एक कारण यह भी है कि गर्भ के पालन पोषण और उस पर पड़ने वाले संस्कारों के विषय में बहुत कम ध्यान रखा जाता है। गर्भ धारण के पश्चात् पुरुष संसर्ग न करना ही उचित है, परन्तु इस नियम का पालन भी बहुत कम स्त्रियें करती होंगी। यही कारण है कि आज कल के बालक दुर्बल अल्पायुषी और बुरे संस्कार वाले होते हैं।

धारिणी रानी ऐसी समस्त वस्तुओं और समस्त कारणों से बचती रहती, जो गर्भ के लिये हानि प्रद या गर्भ पर बुरे संस्कार डालने वाले होते। उसकी जो भी इच्छाएं होतीं, वे ऐसी उत्तम इच्छाओं को पूर्ण करती रहने से धारिणी रानी रोग, मोह तथा भय रहित हो गई।

३

जन्म

समय पर धारिणी रानी ने सुन्दर और सुलक्षण पुत्र को जन्म दिया। हर्ष मग्न दासियों ने राजा अदीनशत्रु के पास जाकर यह शुभ समाचार उन्हें सुनाया। सांसारिक लोगों के लिये और विशेषतः सम्पन्न परन्तु निस्सन्तान लोगों के लिये ऐसे समाचार की अपेक्षा दूसरा कोई समाचार शायद ही इतना अधिक हर्ष दाता होता होगा। संसार के लोग पुत्र जन्म को स्वाभाविक ही बड़े हर्ष का विषय मानते हैं। राजा अदीनशत्रु को भी ऐसी ही प्रसन्नता हुई। उस ने पुत्र जन्म के शुभ समाचार को बड़े हर्ष से सुना और समाचार लाने वाली दासियों को मुकुट के सिवाय अपने शरीर के सब आभूषण पुरस्कार में दे दिये। इतना ही नहीं बल्कि और भी बहुतसा द्रव्य देकर उनका सन्मान सत्कार किया।

पुत्र जन्म के उपलक्ष्य में हस्तिशिखर नगर सजाया गया। बन्दी छोड़े गये। दस दिन के लिये चुंगी कर माफ कर दिया गया। आज्ञा दी गई कि इन दस दिनों में न तो किसी

को दण्ड दिया जावे और न कोई किसी को सतावे। सारे नगर में उत्सव मनाया जाने लगा। दीन दुःखी आदि को बहुतसा दान दिया गया। इस प्रकार जन्म दिन की समस्त क्रियाएं सानन्द की गई। दूसरे दिन भी रात्रि जागरण के साथ इसी प्रकार का उत्सव होता रहा। तीसरे दिन बालक सह धारिणी रानी ने सूर्य चन्द्र के दर्शन किये। इस अवसर पर भी खूब उत्सव मनाया गया। इसी प्रकार ग्यारह दिन तक उत्सव होता रहा। बारहवें दिन मित्र ज्ञाति पुरजन परिजन आदि को आमन्त्रित करके राजा अदीनशत्रु ने सब को प्रेम सहित भोजन कराया। पश्चात् राजा अदीनशत्रु और बालक सह धारिणी रानी एक सिंहासन पर बैठी। तदनन्तर बालक का नाम करण संस्कार किया गया और सुबाहुकुमार नाम रखा गया। नाम करण हो जाने पर दम्पति ने मित्र ज्ञाति परिजन स्वजन आदि को अलंकारादि देकर सम्मानित किया तथा दीन दुःखियों को भोजन वस्त्र आदि दान दिया। इस प्रकार बारह दिन में होने वाले समस्त उत्सवादि सानन्द समाप्त हुए।

पहले के राजा लोग किसी खुसी के उपलक्ष में प्रजा को सुविधा देते थे, उसे कर आदि माफ कर दिया जाता था, परन्तु आज इसके बिल्कुल विपरीत व्यवहार सुना जाता है। अर्थात् यह सुना जाता है कि राजा लोग जन्म, विवाह आदि अवसरों पर प्रजा से और अधिक धन नजर भेंट या न्यौते के नाम पर वसूल करते हैं और वह भी दवों के बाद। ऐसे ही

कारणों से आज राजा और प्रजा में वैमनस्य हो रहा है, यह कहने मे कोई हर्ज नहीं।

पांच धायों की सहायता से वालक सुवाहुकुमार का पालन पोपण होने लगा। वह दिनों दिन उसी प्रकार वढ़ने लगा, जैसे द्वितीया का चन्द्रमा। उसके समीप अनेक देशकी वहुत सी दासियें रखी गई, जिससे सुवाहुकुमार सहज रीति से ही प्रत्येक देश की भाषा रहन सहन आदि को भली भांति जान जावे। समय समय पर सुवाहुकुमार के सब संस्कार जैसे अन्न ग्रहण कराना, कान छिदाना, वर्ष गांठ मनाना चोटी रखाना आदि बड़े समारोह पूर्वक किये गये। वालकेलि करता हुआ सुवाहुकुमार आठ वर्ष का हुआ।

आठ वर्ष और ऊपर कुछ दिन व्यतीत होजाने पर शुभ तिथि मुहूर्तमें सुवाहुकुमार के माता पिता ने सुवाहुकुमार को वहत्तर कलाओं के पारङ्गत आचार्य को शिक्षा के लिये सौंप दिया। आचार्य ने थोड़े ही समय में सुवाहुकुमार को गणितादि वहत्तर कलायें सिखादी। सुवाहुकुमार प्रत्येक कला में दक्ष हो गया। कलाचार्य ने सुवाहुकुमार को लाकर उसके माता पिता को सौंप दिया। अपने पुत्र को समस्त कलाओं में पारंगत देख, धारिणी रानी और राजा अदीनशत्रु वहुत प्रसन्न हुए। दम्पति ने कलाचार्य को सन्मान सत्कार सहित इतना दान दिया कि जो उसके जीवन भर को पर्याप्त था।

उक्त बात से प्रकट है कि उस समय में गुरुकुल की व्य-वस्था बहुत उत्तम थी। राजाओं के पुत्र भी घर पर रह कर शिक्षा नहीं प्राप्त करते थे, किन्तु गुरु-कुल में आचार्य के समीप रह कर शिक्षा प्राप्त करते थे। घर पर रह कर प्राप्त की हुई शिक्षा में और गुरुकुल में रह कर प्राप्त की हुई शिक्षा में अन्तर भी बहुत होता है। गुरुकुल में प्रत्येक छात्र के लिये स्वाव-लम्ब की शिक्षा अनिवार्य थी। इसीलिये छात्र को बहत्तर कलाएं सिखाई जाती थीं। बहत्तर कलाएं जानने वाला बालक भविष्य में कभी न तो किसी के आश्रित ही रहता है और न न उसे आजिविका सम्बन्धी कोई कष्ट ही भोगना पड़ता है। आज की शिक्षा अधिकांश में ऐसी होती है कि जिसमें स्वाव लम्बी बनने के स्थान पर परावलम्बी बनना सिखाया जाता है। आधुनिक शिक्षा से बालकों के स्वतंत्रता के विचार नष्ट हो जाते हैं। वे, खाने, पीने, पहिनने, ओढ़ने, और यहां तक कि बोलने चालने में भी दूसरों के आश्रित रहने में अपना गौरव मानने लगते हैं। सदाचार की जगह दुराचार सिखलाया जाना आज की शिक्षा की विशेषता है। स्वतन्त्र विचार न रहने के कारण वर्तमान समय के अधिकांश शिक्षित लोग दूसरे के बताये हुए मार्ग पर ही चलते हैं। उनकी विचार शक्ति ऐसी नष्ट हो जाती है कि वे किसी नये न्याय मार्ग की खोज नहीं कर सकते। लेकिन प्राचीन काल की शिक्षामें स्वतन्त्रता का प्राधान्य रहता था।

टॉलस्टॉय ने, आधुनिक शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए लिखा है कि आजकल की शिक्षा बहुत दूषित और हानिप्रद है। छात्रों के स्वास्थ्य, इच्छा आदि का ध्यान न रख कर उन पर जबर्दस्ती कोर्स का इतना अधिक बोझ डाल दिया जाता है, जिसे उठाना उनकी शक्ति से परे और रुचिके विरुद्ध होता है। शिक्षा भी केवल वही दी जाती है जिसमें शिक्षित होने पर भी छात्रगण धनिकों के आश्रित रहें, उनके सुख वैभव में सहायक बनें और स्वयं पराधिनता की बेड़ीसे मुक्त होने का भी विचार न कर सकें।

प्राचीन समय के शिक्षक लोग भी ऐसे होते थे, कि इस छात्र को आगे चलकर क्या काम करना है,इस बात को दृष्टि में रख कर शिक्षा दिया करते थे। उचित शिक्षा देने में वे प्रत्येक उपाय का अवलम्बन करते थे,। फिर चाहे ऐसा करने में उनको विपत्ति में ही क्यों न पड़ना पड़े। छात्रों के माता पिता भी ऐसे शिक्षक की आन्तरिक भावना का विचार करके शिक्षक के द्वारा अपने बालक को कोई कष्ट हुआ हो, तब भी शिक्षक का अपराध नहीं मानते थे, किन्तु आभार मानते थे। इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

एक राजा था। उस के एक लड़का था, जो गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करता था। इधर राजा को अपने शरीर पर कुछ ऐसे चिन्ह दिखाई दिये जो वृद्धावस्था के द्योतक हों। उन

चिन्हों को देख कर राजा ने विचारा कि बुढ़ापे का नोटिस आगया है इसलिये मुझे कोई ऐसा काम करना चाहिए, जो भावी सन्तान के लिये आदर्श रूप भी हो और जिसके करने से मेरे आत्माका भी हित हो। इसलिये मुझे राज पाट राज-पुत्र को सौंपकर दीक्षा लेलेनी उचित है।

इस प्रकार निश्चय कर, राजा ने प्रधान को बुला कर, अपने विचार प्रकट करते हुए राज-कुमार के राज्याभिषेक की तैयारी करने का हुक्म दिया। सारे नगर में यह समाचार फैल गया कि राजा अपने राजपाट का भार पुत्र को सौंपकर आप दीक्षा लेरहा है। होते होते यह खबर उस गुरू-कुल में भी पहुँची, जिसमें कि कुमार पढ़ रहा था। कुमार को पढ़ाने वाले शिक्षक ने विचार किया कि राज कुमार कल राजा बनेगा, लेकिन अभी इसे वह शिक्षा तो देनी रह ही गई है, जिस शिक्षा से जनता का हित होने वाला है। आज तो मैं इसका गुरू हूँ और यह मेरा विद्यार्थी है। आज, मैं इसे जैसी और जिस २ तरह चाहूं शिक्षा दे सकता हूं, परन्तु कल जब कि यह राजा हो जावेगा इसे कुछ न तो कह ही सकूंगा, न यह मानेगा ही। इसे जो शिक्षा देनी है, वह कई दिन में दी जानेकी है, और यह मेरे पास केवल आज भर है। कल तो चला ही जावेगा। अब बहुत दिन में दी जाने वाली शिक्षा इसे आज ही कैसे दे दूं?

शिक्षक इस चिन्ता में पड़ गया सोचते सोचते उसने वह उपाय सोचलिया, जिससे कुमार को वह आज ही में शेष शिक्षा दे सके। उसने कुमार को एकान्त में बुला कर उसके हाथ पैर बांध दिये और एक बेंत से उसे खूब पीटा। राजकुमार एक तो सुकुमार था, दूसरे उसने मार के नाम पर कभी एक थप्पड़ भी नहीं खाया था, इसलिये उसे शिक्षक का उक्त व्यवहार बहुत दुःख दायी हुआ। उसके शरीर की चमड़ी निकल आई। वह अपने मन में, दुःख करने के साथ ही शिक्षक के विषय में बहुत से बुरे संकल्प कर रहा था। यद्यपि इस मार से राजकुमार को बहुत पीड़ा हुई, परन्तु शिक्षक ने उसे इतने में ही नहीं छोड़ा, अपितु एक अंधेरी कोठरी में बन्द कर दिया। निश्चित समय तक राजकुमार को एक कोठरी में बन्द रखकर शिक्षक ने उसे कोठरी से निकाला और अपने शिष्यों के साथ उसे उस के घर भेजकर राजा से कहलवा दिया कि तुम्हारा पुत्र सब शिक्षा प्राप्त कर चुका है, अतः शिक्षक ने इसे आप के पास लौटा दिया है।

राजकुमार अपने पिता के पास पहुंचा। अपने शरीर को बताते हुए उसने राजा से शिक्षक के निर्दयता-पूर्ण व्यवहार की शिकायत की। पुत्र के शरीर पर मार के चिन्ह देख और उसकी शिकायत सुनकर राजा को शिक्षक के ऊपर बहुत ही क्रोध हुआ। उसने उसी क्रोधावेश में यह आज्ञा दी कि शिक्षक को पकड़ कर फाँसी लगा दी जावे।

राजा की आज्ञा पाकर राज-सेवक शिक्षक को पकड़ लाये। शिक्षक अपने मन में समझ गया कि यह सजा राजकुमार को शिक्षा देने की ही है। उसने राजकर्मचारियों से पूछा कि मैं क्यों पकड़ा जाता हूं? उन्होंने उत्तर दिया कि-यह हम नहीं जानते परन्तु राजा की आज्ञा तुम्हें फाँसी देने की है। अतः तुम फाँसी लगने को तैयार हो जाओ।

फाँसी के समय नियमानुसार शिक्षक से उसकी अन्तिम इच्छा पूछी गई। शिक्षक ने कहा कि मेरी इच्छा केवल यही है कि मैं राजा से मिल कर एक बात पूछलूं। अधिकारियों ने शिक्षक की इस इच्छा की सूचना राजा को दी। राजा ने पहिले तो यह कह कर कि मैं ऐसे आदमी का मुँह नहीं देखना चाहता, शिक्षक से मिलना अस्वीकार कर दिया, परन्तु अधिकारियों के समझाने बुझाने पर उसने शिक्षक से मिलना और उसकी बात का उत्तर देना स्वीकार कर लिया।

शिक्षक को राजा के सामने लाया गया। राजा को शिक्षक का प्रसन्न चेहरा देख कर आश्चर्य हुआ। शिक्षक के चेहरे से यह ज्ञात होता था कि जैसे इसे मरने का दुःख नहीं, किन्तु सुख है। राजा ने शिक्षक से कहा कि तुम क्या कहना चाहते हो? कहो! शिक्षक ने कहा कि मैं आप के पास प्राण भिक्षा के लिये नहीं आया हूं। मुझे, फाँसी लगने का किंचित भी भय नहीं है। मैं केवल आप से यह जानना चाहता हूं कि

आपने मुझे किस अपराध पर फाँसी लगाने का हुक्म दिया है? सब को मेरा अपराध मालूम हो जाना अच्छा है, नहीं तो मुझ पर यह कलंक रह जावेगा, कि शिक्षक ने न मालूम कौनसा गुप्त अपराध किया था, जिस से उसे फाँसी दे दी गई।

शिक्षक की इस बात ने तो राजा का आश्चर्य और भी बढ़ा दिया। वह विचारने लगा, कि यह भी कैसा विचित्र आदमी है, जो मरने से भय नहीं करता है? उसने शिक्षक की बात के उत्तर में कहा कि क्या तुमको अपने अपराध का पता नहीं है? तुमने कुमार को बड़ी निर्दयता पूर्वक पीटा और कोठरी में बन्द कर दिया, फिर भी अपना अपराध पूछते हो।

राजा के उत्तर के प्रत्युत्तर में शिक्षक ने कहा कि मैंने तो कुमार को नहीं मारा! शिक्षक की यह बात सुनकर राजा का आश्चर्य क्रोध में परिणत हो गया। वह शिक्षक तथा वहां पर उपस्थित लोगों को कुमार का शरीर दिखाकर कहने लगा कि मैं शिक्षक की अब तक की बात से तो प्रसन्न हुआ था, परन्तु अब यह मरने के भय से झूठ बोलता है। देखो, इसके शरीर पर अब तक मार के चिन्ह मौजूद हैं, फिर भी यह कहता है, की नहीं मारा।

राजा ने कुमार के मुँह से घटना की समस्त बातें कहल- वाई। सब लोग शिक्षकी निन्दा करते हुए कहने लगे की

वास्तव में इसने फाँसी का ही काम किया है ! शिक्षक ने कहा कि मैंने इसे मारा ज़रा भी नहीं है, जिसे आप मार कहते हैं वह तो मैंने शिक्षा दी है। यदि शिक्षा देने के पुरस्कार में ही आप मुझे फांसी दिलवाते हैं, तो यह आपकी इच्छा। मुझे आपसे इतनी बात करनी थी, अब आप मुझे फांसी लगवा दीजिये।

शिक्षक की इस बात ने तो सभी को आश्चर्य में डाल दिया राजा ने शिक्षक से कहा कि तुम्हारी इस बात का अर्थ समझ में नहीं आया, कि तुमने इसको इतना कष्ट दिया और फिर कहते हो कि मैंने मारा नहीं, किन्तु शिक्षा दी है ? बतलाओ कि तुम्हारे इस कथन का रहस्य क्या है ? शिक्षक कहने लगा कि, मुझे मालूम हुआ कि राजकुमार कल राजा होगा। मैंने विचारा कि कुमार अब तक सुख में ही रहा है, दुःख का इस किंचित् भी अनुभव नहीं है। इससे यह राज्याधिकार में मत्त हो कर बिना विचार किये ही प्रजा में से किसी को मारने, किसी को बांधने और किसी को क़ैद करने की आज्ञा देगा। यह इस बात का विचार नहीं करेगा, कि मारने बांधने और क़ैद करने से इसे कैसा दुःख होगा। इस प्रकार विचार कर मैंने निश्चय किया कि कुमार को इसका अनुभव करा दिया जावे, जिससे यह आज्ञा देते समय अपने अनुभव पर से दूसरे के कष्ट को जान सके और विचार कर आज्ञा दे। यद्यपि यह मैं पहिले ही जानता था कि कुमार को जो शिक्षा

मैं दे रहा हूं, इसके बदले में सम्भव है कि मुझे फाँसी की सज़ा भी मिले। लेकिन इसके लिये मैंने यही निश्चय किया कि मेरी फाँसी से अनेकों आदमी कष्ट से बचेंगे, इसलिये मुझे फाँसी का भय न करना चाहिये और कुमार को शिक्षा दे देनी चाहिए। यही विचार कर मैंने कुमार को शिक्षा दी है, कुमार को मारा नहीं।

शिक्षक की बात सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। वह शिक्षक की प्रशंसा करने लगा, और कहने लगा कि तुमने यह काम किया है जिसके विषय में मुझे अब तक चिन्ता थी तुमने मुझे चिन्तामुक्त कर दिया। यद्यपि तुम्हारे इस कार्य से प्रसन्न होकर मुझे उचित था कि मैं तुम्हें पुरस्कार देता, परन्तु मैं इस रहस्य को अब तक न जान सका था इसलिये मैंने तुम्हें फाँसी देने की आज्ञा दे दी। अब मैं तुम्हें फाँसी देने की अपनी आज्ञा को वापिस लेता हूं और दस ग्राम की जागीर देकर तुम्हारे सिरपर यह भार देता हूँ कि जिस तरह इस बार तुमने अपने प्राणों की परवाह न करके कुमार को शिक्षा दी है, इसी प्रकार सदा शिक्षा देते रहना। राजा की बात के उत्तर में शिक्षक ने कहा कि आपकी यह आज्ञा शिरोधार्य है, परन्तु मैं जागीर नहीं ले सकता। यदि जागीर लूंगा तो फिर आप की आज्ञा का पालन नहीं कर सकूँगा। क्योंकि तब मैं शिक्षक न रहूँगा किन्तु गुलाम होऊंगा। मुझे अपनी जागीर छिन जाने का सदा भय बना रहेगा, जिससे मैं सच्ची बात न कह कर ठाकुर सुहाती बात कहूँगा।

मतलब यह कि प्राचीन समय के शिक्षक प्रायः ऐसे उत्तम होते थे कि छात्र को उचित शिक्षा देने में वे प्राणों तक की भी परवाह नहीं करते थे। साथ ही शिक्षा भी ऐसी होती थी कि जिससे छात्र स्वतन्त्र स्वावलम्बी और दूसरे के दुःख को जानता था। अस्तु।

बहत्तर कलाओं को सीखकर, सुबाहुकुमार संसार के सब कामों में दक्ष होगया। लिपि, गणित, गाना, बजाना, बर्तन, भोजन, वस्त्र, तथा घर बनाना, खेती करना, कविता करना, युद्ध करना, चित्रकारी करना, स्त्री, पुरुष, पशु-पक्षी आदि के लक्षण तथा शकुन जानना, इत्यादि समस्त कलाओं को उसने सीखा था और प्रयोग द्वारा अनुभव भी किया था वह, कई देशों की भाषा भी सीखा था।

शिक्षा प्राप्त करके आये हुए सुबाहुकुमार के निवास, क्रीड़ा आदि के लिये उस के माता-पिता ने अच्छे अच्छे महल बनवादिये। सुबाहुकुमार, पिता के बनवाये हुए उन्हीं महलों में आनन्द से रहने लगा।

४

विवाह

सुबाहुकुमार युवक हुआ। उसके अंग प्रत्यंग में युवावस्था प्रकट होने लगी। यह देख कर सुबाहुकुमार के माता पिता ने शुभ नक्षत्र मुहूर्त्त में रूप, गुण आदि में समानता रखने वाली अनेक कन्याओं से सुबाहुकुमार का विवाह कर दिया।

पूर्व समय में, विषय भोग का ऐसा प्राधान्य न था, जैसाकि आज है। इसलिये उस समय विवाह एक साधारण बात मानी जाती थी। आज की तरह विवाह के नाम पर धन और समयका नाश नहीं किया जाता था। शास्त्रोंमें, जन्मोत्सव मनाये जाने और जन्मके बारहवें दिन ज्ञाति मित्र आदिको भोजन कराने के प्रमाण तो अवश्य मिलते है। परन्तु विवाहोत्सव मनाये जाने और विवाह के समयमें ज्ञाति मित्र आदिको भोजन कराने आदि के प्रमाण कहीं नहीं मिलते। इसका कारण यही है कि उस समय के लोग विवाह को ब्रह्मचर्य न पालने की अपनी कमज़ोरी का कारण समझते थे। उनका ध्येय, ब्रह्मचर्य पालन होता था। लेकिन आजके लोग विवाह को विशेषता का कार्य समझते हैं। यदि उस समय

विवाह को सर्वोत्तम कार्य समझा जाता होता और इस प्रकार ढोंगी उत्सव करने तथा भोजनादि कराने की प्रथा होती, तो सुबाहु-कुमार के अधिकार में इस का वर्णन अवश्य होता। अस्तु।

विधि सहित सुबाहुकुमार का विवाह हुआ। राजा अदीन-शत्रु और धारिणी रानी ने सोने चांदी के सिक्के मुकुट, कुंडलहार, अर्द्धहार प्रभृति अनेक आभूषण, वस्त्र, हाथी घोड़े, गौएं, ग्राम, दासदासी आदि सुबाहुकुमार को दिये। अपने सुन्दर महलों में रहता हुआ तथा पूर्व सुकृत के फलस्वरूप पांचों प्रकार के इन्द्रिय भोग भोगता हुआ सुबाहुकुमार, नीति पूर्वक अपना जीवन बिताने लगा।

जिस समय कि सुबाहु कुमार महलों में रहता हुआ नीति पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, उसी समय में चौदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियों से घिरे हुये भगवान महावीर हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरंड उद्यान में पधारे। नागरिक और सेना सहित महाराजा अदीन शत्रु भगवान को वन्दना करने के लिये चले। जन समूह के कोलाहल ने सुबाहु कुमार के राग रंग में बाधा पहुँचाई। सुबाहु कुमार का ध्यान उस कोलाहल की ओर आकर्षित हुआ। अपने महल से उसने झांक कर देखा तो मालूम हुआ कि लोग ठट्ट के ठट्ट नगर के बाहर की ओर जारहे हैं। वह अपने मन में विचार करने लगा कि आज कौनसा उत्सव है, जिसमें सब लोग इस प्रकार

जारहे हैं? उसने कंचुकी (महल का पहरेदार) को पूछा कि आज कौनसा उत्सव है, जिसके लिये नगर के सब लोग नगर के बाहर जारहे हैं? उत्तर में कंचुकी ने प्रसन्न होते हुए प्रार्थना की:-स्वामिन! आज नगर में कोई उत्सव नहीं है। किन्तु श्रमण भगवान महावीर नगर के बाहर पुष्प-करण्ड उद्यान में पधारे हैं। ये सब लोग उन्हीं भगवान के दर्शनार्थ तथा ज्ञानोपदेश सुनने और अपनी शंकाओं का समाधान करने जारहे हैं।

कंचुकी द्वारा यह शुभ समाचार सुनकर सुबाहुकुमार बहुत प्रसन्न हुआ भगवान महावीर के दर्शन करने के लिये वह भी लालयित हो उठा। उसने सेवकों को बुलाकर अपना रथ तैयार करने की आज्ञा दी। सेवकों के रथ तैयार कर लाने पर सुबाहु कुमार ने वस्त्राभूषण पहिने। फिर चार घोड़े वाले मनोहर रथ में बैठ कर और भृत्यगणों को साथ लेकर वह पुष्प-करण्ड उद्यान की ओर चला। उद्यान के समीप रथ को खड़ा करके सुबाहुकुमार रथ से नीचे उतरा। अपने पास के अस्त्र शस्त्र पान पुष्प आदि को उसने वहीं त्याग दिया और दुपट्टे का उत्तरासण करके हाथ जोड़ नंगे पाँव वह भगवान महावीर के पास गया। भगवान के समीप जाकर सुबाहु-कुमारने दक्षिण दिशासे आरंभ करके भगवान महावीरको तीन प्रदक्षिणाएँ दीं और मन वचन काय से भगवान को वन्दना नमस्कार किया।

शास्त्रकारों ने सुबाहु कुमार के उक्त कार्य का वर्णन भावी जनता की शिक्षा के लिये किया है। सन्त महात्मा के समीप नम्रता सहित जाना, नम्रता में बाधक और तमोगुण के चिन्ह हथियारों को अपने साथ न ले जाना, तथा सचित्त वस्तु जिनका स्पर्श करना साधु के कल्प में नहीं है अपने पास न रखना, श्रमणोपासना के प्रधान अंग है। सुबाहु कुमार इन नियमों से भिज्ञ था। शिक्षा के समय उसे इन बातों से भी अवगत किया था। इसी से उसने इनका पालन किया। भावी जनता भी इन नियमों को जान ले, और सुबाहुकुमार की ही तरह इन नियमों का पालन भी करे, इसी बात को दृष्टि में रख कर शास्त्र में ऐसी बातों का वर्णन किया गया है।

५

धर्म श्रवण

भगवान को वन्दना करने के लिये जो लोग गये थे, उनके वन्दना कर चुकने पर तथा यथा स्थान बैठ जाने पर भगवान ने उस वृहद् जन समुदाय को धर्मोपदेश दिया। भगवान के मुखार विन्द से निकले हुए धर्मोपदेश को श्रवण करके हस्तिशिखर नगर के अन्य सब लोग तो भगवान को वन्दना कर कर के अपने-अपने घर चले गये, परन्तु सुबाहुकुमार वहीं ठहरा रहा।

यद्यपि भगवान के उपदेश को बहुत से लोगों ने सुना था, परन्तु भगवान का उपदेश सुनने से जो आनन्द सुबाहुकुमार को आया, वह दूसरे को नहीं आया। या आया भी हो, तो उनका इतिहास मौजूद नहीं है भगवान का उपदेश श्रवण करने पर सुबाहुकुमार को वैसा ही हर्ष हुआ, जैसा हर्ष ताप-पीड़ित को छाया मिलने से, और तृषा पीडित को जल मिलने से होता है।

भगवान का उपदेश सुन कर दूसरों की अपेक्षा सुबाहु-कुमार को अधिक आनन्द मिलने का कारण यह था कि

सुबाहुकुमार ने भगवान के कहे हुए धर्मोपदेश को केवल सुनाही नहीं था, किन्तु उसका मनन भी किया था। बात का वास्तविक रहस्य तभी मालूम होता है, और तभी उसके सुनने से लाभ भी है, जब उसका मनन किया जावे। बिना मनन किये न तो उपदेश के वास्तविक रहस्य को ही पहुँच सकता है, और न उससे पूरा लाभ ही होता है। जिस प्रकार अच्छा बलदायक भोजन भी तभी शक्तिदाता होता है, जब कि वह पच जावे, ठीक उसी प्रकार उत्तम उपदेश भी तभी लाभप्रद होता है, जब उसका मनन किया जावे।

बहुत से लोग उपदेशक के समीप आते तो हैं उपदेश श्रवण करने के नाम से, परन्तु सुन कर मनन करना तो दूर रहा--उपदेश को अच्छी तरह सुनते भी नहीं। कई लोग वहाँ बातें करने लगते हैं, या अनावश्यक हो हल्ला मचा कर आप स्वयं भी नहीं सुनते और दूसरे को भी सुनने से वञ्चित रखते हैं। उनका पूर्व पाप, उन्हें भी धर्मोपदेश नहीं सुनने देता, तथा दूसरे के सुनने में उनके द्वारा बाधा दिला कर और पाप करवाता है।

भगवान का उपदेश श्रवण करके सुबाहुकुमार का रोम रोम विकसित हो उठा। प्रफुल्ल-हृदय सुबाहुकुमार, भगवान को धन्यवाद देकर अपने आप के लिये भी आजका दिन धन्य मानने लगा। वह विचारने लगा कि भगवान ने जो

उपदेश सुनाया है, उसे इसी हर्षावेग में-सर्वथा नहीं तो किसी अंश में-सार्थक करना उचित है।

जो काम उत्साह में हो सकता है, वह उत्साह न रहने पर उस रूप में होना कठिन हो जाता है। हाँ, उत्साह में किया हुआ काम होगा वैसा ही अच्छा या बुरा, जैसा अच्छा या बुरा उत्साह होगा। अर्थात् उत्साह अच्छा होगा, तो काम भी अच्छा होगा और उत्साह बुरा होगा, तो काम भी बुरा होगा। उत्साह के वश बुरा काम-जिसका परिणाम पश्चात्तापपूर्ण हो-तो कभी न करना चाहिए, परन्तु अच्छे काम के उत्साह को निकल जाने देना बुद्धिमानी नहीं है। उसे तो सार्थक करना ही उत्तम है। अस्तु।

सब लोगों के चले जाने पर सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर को तीनबार प्रदक्षिणा की और हाथ जोड़ कर भगवान से प्रार्थना करने लगा-भगवन्! आपका धर्मोपदेश सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैं आपके वचनों पर विश्वास करता हूँ और इस निर्ग्रन्थ धर्म पर विश्वास रखता हूँ। मुझे इस निर्ग्रन्थ धर्म से उत्तम कोई भी धर्म नहीं जान पड़ता। प्रभो! यद्यपि मैं निर्ग्रन्थ धर्म को उत्तम मानता हूँ, इस पर श्रद्धा रखता हूँ और विश्वास करता हूँ, तथापि जिस प्रकार अन्य राजकुमारादि आपके पास दीक्षित होकर इस निर्ग्रन्थ धर्म का पूर्णतया पालन करते हैं, उस तरह से पालन करने में यानी दीक्षा लेने में-मैं दुर्भाग्यवश असमर्थ हूँ। इसलिये मैं देश से ही धर्म को पालन करना चाहता हूँ और गृहस्थ लोग

धर्म का पालन करने के लिये जिन बारह व्रतों को धारण करते हैं, उन्हें मैं भी धारण करना चाहता हूँ।

सुबाहुकुमार अपने आप को दीक्षा के लिये असमर्थ बताता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वह शरीर से अशक्त रहा हो। उसके कहने का यह मतलब है कि मेरी आत्मा इतनी बलवान् नहीं है कि सांसारिक भोगों को त्यागने में दुःख न माने, किन्तु सुख माने, मैं उतना ही करना समझता हूँ जितना करने को मेरी आत्मा सशक्त है।

सुबाहुकुमार का विचार ठीक ही है। वास्तव में जिस काम को जो नहीं कर सकता, उस काम को करने की जिम्मेदारी लेना उसकी मूर्खता है। काम चाहे हो-थोड़ा परन्तु सुचारू रूप में हो। बड़े काम की जिम्मेदारी ले लेना और फिर उस काम को पूरा करने में असमर्थ रहना बुद्धिमानी नहीं है। ऐसा करने वाले की दशा धोबी के कुत्ते की तरह हो जाती है जो न घर का ही रहता है न घाट का ही। इसलिए प्रत्येक काम में अपनी शक्ति को देखलेना उचित है, फिर यदि आध्यात्मिक काम है तो आध्यात्मिक शक्ति देखने की आवश्यकता है और सांसारिक काम है तो सांसारिक शक्ति।

धर्म का पूरी तरह पालन हो या नहीं, यह बात दूसरी है, परन्तु धर्म को समझकर स्वीकार करना, उस पर विश्वास रखना और श्रद्धा लाना प्रत्येक बुद्धिमान का कर्तव्य है। धर्म की स्थिति, श्रद्धा और विश्वास पर ही है। जिसमें इनका अभाव है वह धर्म को प्राप्त नहीं कर सकता। गीता में भी कहा है:—

श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

गीता अ. १७

अर्थात्—मनुष्य श्रद्धामय है, इसलिए जिस की श्रद्धा जैसी होती है, वह वैसा ही बन जाता है और उसे फल भी उसकी श्रद्धानुसार ही मिलता है।

यद्यपि धर्म के लिये श्रद्धा और विश्वास की आवश्यकता अवश्य है लेकिन बिना समझे तथा बिना विचारे किसी भी बात का विश्वास कर लेना-उस पर श्रद्धा रखनी अन्ध विश्वास और अन्ध श्रद्धा कहलाती है। अन्ध विश्वास तथा अन्ध श्रद्धा से प्रायः लाभ के बदले हानी ही होती है और धर्म के बदले अधर्म का पोषण करना पड़ता है। इसलिये प्रत्येक बात पर सोच समझ कर विश्वास करना चाहिये। अथवा तर्क वितर्क द्वारा बात का मनन कर उसका अनुभव करें और फिर विश्वास कर उस पर श्रद्धा रखे।

धर्म पर श्रद्धा रखनी धर्म के समीप पहुँचना है और धर्म का पालन करना उसे प्राप्त करना है। जो आदमी धर्म पर श्रद्धा रख कर उसके समीप पहुँच जाता है वह धर्म के मूल तत्व ज्ञान और दर्शनरूप समाधि को प्राप्त कर चुकता है फिर उसके लिए चारित्र रुपी एक ही काम शेष रहता है। अतः धर्म का पूरी तरह पालन न कर सके, तब भी धर्म के प्रति श्रद्धा तो रखनी ही चाहिए।

धर्म के दो भेद हैं एक श्रावक धर्म और दूसरा साधु धर्म। या एक आगार धर्म और दूसरा अणगार धर्म। साधु या अणगार धर्म का स्वीकार करना पूर्णनिर्ग्रन्थ धर्म है और श्रावक व्रत का धारण करना आगार धर्म स्वीकार करना है। आगार धर्म का पूरी तरह पालन करने के लिये श्रावक को वे १२ व्रत धारण करके पालन करना आवश्यक है, जिन १२ व्रतों को सुबाहुकुमार ने धारण किया था। विना इन १२ व्रतों को धारण किये और उनका पालन किये आगार धर्म का पूर्ण पालन नहीं हो सकता। जो लोग इन बारह व्रतों में से कुछ व्रतों को धारण करके उन का पालन करते हैं, वे उतने अंश में आगार धर्म के पालन करने वाले अवश्य हैं, परन्तु पूर्ण पालने वाले तो वही हैं जो बारह व्रतों को स्वीकार करके उन का पालन करें। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि यदि वे अण गार धर्म का पूर्णतया पालन नहीं कर सकते, तो कम से कम आगार धर्म का पालन तो अवश्य करें।

सुबाहुकुमार की सरलता पूर्ण प्रार्थना के उत्तर में भगवान् ने सुबाहुकुमार से कहा कि जिस धर्म के स्वीकार करने और पालन करने में तुम्हें सुख हो, तुम उसे ही स्वीकार करके पालन करो।

महावीर भगवान ने आगार धर्म और अणगार धर्म दोनों का उपदेश सुनाया था। सुबाहुकुमार ने दोनों धर्मों में से आगार धर्म को धारण करना अपनी शक्ति के उपयुक्त समझ

कर आगार धर्म के बारह व्रत धारण कराने की ही भगवान से प्रार्थना की। भगवान ने सुबाहुकुमार पर यह दबाव नहीं डाला कि तुम अणगार धर्म ही धारण करो। एक तो वीतराग का धर्म ही यह होता है कि जिस की जो शक्ति है उससे अधिक धर्म के पालन करने की वे प्रेरणा नहीं करते हैं। दूसरे भगवान जानते हैं कि मैंने आगार धर्म और अणगार धर्म दोनों ही का उपदेश दिया है, उस में से इस समय यह आगार धर्म अपनाना चाहता है और अणगार धर्म के लिये अपने को अशक्त बताता है, तो फिर इस पर अणगार धर्म धारण करने के लिये जोर देना या जबर्दस्ती बोझा डालना ठीक नहीं। यह अपनी शक्ति के अनुसार जिस आगार धर्म को धारण कर रहा है, इस समय के लिये यही श्रेयस्कर है।

सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर से आगार धर्म के बारह व्रतों × को धारण किया। व्रतों को स्वीकार कर सुबाहुकुमार भगवान को वन्दना नमस्कार करके रथ में बैठ अपने महल को चला गया।

× स्थूल अहिंसा व्रत, सत्यव्रत अस्तेयव्रत ब्रह्मचर्य व्रत, परिग्रह परिमाण, दिशि परिमाण, भोगोपभोग परिमाण, अनर्थदण्ड निवर्तन, सामायिक व्रत, देशावगासिक व्रत, पौषध व्रत, और अतिथि संविभाग व्रत

इन व्रतों में से प्रथम तीन व्रतके विषय में तीन पुस्तकें मण्डल द्वारा प्रकाशित होचुकी हैं। शेष व्रतों के विषय में भी समयानुसार पुस्तकें प्रकाशित होंगी।

सम्पादक.

६

यह सम्पत्ति कैसे मिली ?

भगवान महावीर के प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूतिजी थे। इन का गौतम गोत्र था, इससे इन का उपनाम भी गौतम ही होगया था। ये बड़े ही तपस्वी, पूर्ण ब्रह्मचारी और महान् तेजस्वी थे, तथा मति श्रुति अवधि और मनपर्यव इन चारों ज्ञान से युक्त थे। जिस समय सुबाहुकुमार ने भगवान महावीर से बारह व्रत धारण किये, उस समय गौतम स्वामी ऐसे स्थान पर विराजते थे, जो भगवान के विराज ने के स्थान से न बहुत दूर था, न बहुत नज़दीक। इन के मन में सुबाहुकुमार के विषय में कुछ जानने की इच्छा हुई, इसलिये सुबाहुकुमार के चले जाने पर, गौतम स्वामी अपने स्थान से उठ कर भगवान के समीप आये। उन्होंने भगवान के, तीन बार प्रदक्षिणा की। प्रदक्षिणा और वन्दना नमस्कार करके, वे भगवान के सन्मुख-न बहुत दूर न बहुत नज़दीक-हाथ जोड़ कर नम्रता दिखाते हुए बैठ गये।

गौतम स्वामी के इस कार्य का वर्णन शास्त्रकारों ने इस उद्देश्य से किया है कि भविष्य के लोगों को यह सभ्यता मालूम हो जावे। भविष्य के लोग इस बात को जान जावें कि जो अपने से बड़ा है, उसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। अस्तु.

गौतम स्वामी ने विनय-पूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् महावीर से प्रार्थना की-भगवन्! यह सुवाहुकुमार बहुत लोगों को इष्टकान्त प्रिय मनोज्ञ मनोहर सौम्य सुभग और प्रिय दर्शन लगता है। इसका रूप भी ऐसा ही है। हम साधुओं को भी यह ऐसा ही लगता है। हे प्रभो! इस उत्तम मनुष्य जन्म के साथ इस सुवाहुकुमार को यह सम्पत्ति कैसे मिली? पूर्व भव में यह कौन था? इसका नाम गोत्र क्या था, तथा यह किस जगह के किस ग्राम में रहता था? इसने ऐसा कौनसा दान दिया था? क्या भोजन किया था? कौनसा आचरण किया था, और किन महात्मा के पास आचार सम्बन्धी एक भी वचन सुन कर अपने हृदय में धारण किया था, जो मनुष्य जन्म के साथ इसे यह सम्पत्ति प्राप्त हुई है? इन सब बातों को जानने की मेरे हृदय में प्रबल अभिलाषा है, अतः दया करके यह सब बताने की कृपा कीजिये।

यद्यपि गौतम स्वामी यह जानते हैं कि सुवाहुकुमार राज कुमार है धन धान्य स्त्री आदि से समृद्ध है, लेकिन इस बाह्य

सम्पत्ति को देख कर ही गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से यह प्रश्न नहीं किया है कि पूर्व भव में सुबाहुकुमार ने क्या दान दिया था, क्या खाया था कौनसा आचरण किया था, और किन महात्मा के वचन सुन कर हृदय में धारण किये थे, जो इसे मनुष्य जन्म के साथ यह सम्पत्ति मिली। किन्तु सुबाहुकुमार में जो बहु जन समाज को इष्ट कान्त प्रिय सौम्य सुभग आदि लगने की सम्पत्ति है, उस सम्पत्ति को देखकर ही गौतम स्वामीने भगवान से उक्त प्रश्न किये हैं। क्योंकि राजकुमार होना, धन धान्य स्त्री आदि से समृद्ध होना, वास्तविक सम्पत्ति नहीं है, वास्तविक सम्पत्ति तो बहुजन समाज को इष्ट कान्त प्रिय आदि लगने में ही है। धन धान्यादि सम्पत्ति तो पापानुबन्धी--पुण्य से भी हो सकती है, जो कि और पाप ही बढ़ाती है--परन्तु इष्ट कान्त प्रिय आदि पुण्य को बढ़ाने वाली सम्पत्ति पुण्यानुबन्धी--पुण्य से ही प्राप्त होती है। इसी लिये गौतम स्वामी ने इस इष्ट कान्त और प्रिय होने की सम्पत्ति प्राप्त होने के विषय में ही भगवान महावीर से सुबाहुकुमार के पूर्व--सुकृत पूछे हैं।

कई लोग धन वैभव आदि के होने में ही पुण्यवानी मानते हैं, परन्तु ऐसा समझना भूल है। धन वैभव पुण्यानुबन्धी--पुण्य से भी होता है और पापानुबन्धी--पुण्य से भी। पापा--नुबन्धी पुण्य से मिला हुआ धन वैभव पाप को बढ़ावेगा इसलिये केवल धन वैभव के होने में ही पुण्यवानी मान लेना

ठीक नहीं। पुण्यवानी वह है, जिसके होने पर मनुष्य सब का इष्ट बन जाय, सब को प्रिय लगे और सब कोई उसे चाहे। इसी प्रकार पुण्यवानी की सुन्दरता भी वही है, जिसके होने पर दर्शक के हृदय पर पुण्य का प्रभाव पड़े। केवल वस्त्राभूषण पहिन कर, तेल लगाकर और बाल सवाँर कर सुन्दर नहीं बन सकता है, किन्तु सबका प्रिय-सब पर दया रखने वाला और सबके हृदयमें पुण्य का संचार करने वालाही सुन्दर है। अच्छे अच्छे वस्त्राभूषण पहिनने वाला तथा शरीर से सुन्दर मनुष्य भी जब पुण्यवान माना जाता है, तो उस मनुष्य की पुण्य-वानी कैसी होगी, जिसमें इन बातोंके साथ ही साथ बहुजन-समाज को इष्ट कान्त और प्रिय लगने की सम्पत्ति भी मौजूद है।

गौतम स्वामीने सुबाहुकुमार में जो विशेषताएँ बताई हैं, किसी एक ही मनुष्य को उस मनुष्य में इन विशेषताओं का दिखना स्वाभाविक है, जिससे कि उसका स्वार्थ सधता हो। इस विचार से गौतम स्वामी ने यह स्पष्ट कर दिया कि-किसी एक को ही नहीं, किन्तु-बहुजनसमाज को सुबाहुकुमार इष्ट कान्त और प्रिय लगता है। सुबाहुकुमार राजकुमार था, इसलिये हो सकता है कि बहुजनसमाज को भी वह खुशामद या भय से इष्ट कान्त और प्रिय लगता हो। परन्तु साधुओं को न तो किसीकी खुशामद है, न किसी का भय। वे तो वही बात कहेंगे, जो वास्तविक हो। इसलिये गौतम स्वामीने यह भी कह दिया कि हम साधुओं को भी यह ऐसा ही लगता

है और इसका रूप भी ऐसा ही है। इस प्रकार स्पष्ट करने से गौतम स्वामी का अभिप्राय यह है कि सुबाहुकुमार में इष्ट कान्त और प्रिय लगने की सम्पत्ति लौकिक नहीं, किन्तु अलौकिक है। और सुबाहुकुमार सबको लौकिक कारणों से ही नहीं, किन्तु अलौकिक कारणों से भी इष्ट कान्त और प्रिय लगता है।

गौतम स्वामी के प्रश्नों को देखने से प्रकट है कि सुबाहुकुमार को मनुष्यजन्म के साथ ऋद्धि आदि जो सम्पत्ति मिली है, वैसी सम्पत्ति दान की उत्तमता से, भोजन की उत्तमता से, साधु महात्मा के वचन सुनकर हृदय में धारण करने से और आचरण को उत्तम रखने से ही प्राप्त होती है। बिना इनके प्राप्त नहीं होती।

भगवान् महावीर से गौतम स्वामी ने पहिले यह प्रश्न किया है कि सुबाहुकुमार पूर्वभव में कौन था, इसका नाम क्या था और किस जगह के किस ग्राम में यह रहता था।

प्रत्येक बातका विवरण जानने के पहिले-जिसके विषय में बात है उसका-परिचय प्राप्त करना आवश्यक होता है। क्योंकि जब तक परिचय न हो, तब तक यह कैसे जाना जा सकता है कि यह विवरण किसका है। परिचय के लिये ही नाम गोत्र आदि जानने पड़ते हैं। बिना नाम गोत्र मालूम हुए, उस मनुष्य के विषय में कही जाने वाली बातें एक प्रकार से निरर्थकसी होती हैं। उदाहरण के लिये किसी

व्यक्ति में कुछ रूपया लेना है । इन रुपयों को दिलाने के लिये यदि न्यायालय में प्रार्थना करने की आवश्यकता होगी, तो कितना रुपया लेना है आदि विवरण बताने के पहिले यह बताना पड़ेगा कि अमुक नाम का आदमी-जो अमुक गोत्र का है और अमुक स्थान पर रहता है, उसमें इतना रुपया लेना है । अर्थात् परिचय पहिले देना पड़ता है और विवरण पश्चात् । मतलब यह कि किसी मनुष्य के विषय में कोई बात जानने या कहने के पहिले उस मनुष्य का नाम गोत्र स्थान आदि का परिचय प्राप्त करना या देना आवश्यक हो जाता है । इस बात को दृष्टि में रख कर ही गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से सुबाहुकुमार के विषय में सब से पहिले उसका पूर्वभव का नाम गोत्र आदि पूछा है । अस्तु ।

भगवान महावीर से गौतम स्वामी का दूसरा प्रश्न यह है कि पूर्वभव में सुबाहुकुमार ने कौनसा दान दिया था, जिस के फल स्वरूप इसे यह मनुष्यजन्मसम्बन्धी सम्पत्ति मिली है ।

शास्त्रकारों ने दान के दस भेद बताये हैं । १ अनुकम्पादान, २ संग्रहदान ३ भयदान ४ कारुण्यदान ५ लज्जादान ६ गर्व दान ७ अधर्मदान ८ धर्मदान ६ काहिदान और १० कतन्तीदान ।

किसी दीन दुःखी पर दया करके उसकी सहायतार्थ जो दान दिया जाता है, उसे अनुकम्पादान कहते हैं । जैसे भूख से चिल्लाते हुए को भोजन देना । अपने आपका कष्ट मिटाने के लिये जो दान दिया, जाता है, उसे संग्रह दान कहते हैं ।

जैसे घूस देना। भय के कारण से जो दान दिया जाता है। उसे भयदान कहते हैं। जैसे-ये हमारे स्वामी के गुरु हैं, इन्हें रोटी न देने से स्वामी नाराज होगा इस भय से साधु को रोटी देना। किसी प्रियजन के वियोग में दिया गया दान करुणादान कहलाता है। जैसे शय्यादान देना। लज्जा के वश होकर दिया गया दान लज्जादान कहलाता है। जैसे-ये साधु हमारे घर आये हैं, यदि इन्हें रोटी न देंगे तो अपकीर्ति होगी--इस विचार से साधु को रोटी देना। बात पर चढ़ कर यानी गर्वावेश में जो दान दिया जाता है वह गर्वदान कहलाता है। जैसे जोश में आकर भांड आदि को देना। अधर्म-का पोषण करने के लिये जो दान दिया जाता है, उसे अधर्म दान कहते हैं। जैसे विषय-भोग के लिये वेश्या को देना, या चोरी करवाने, झूठ बुलवाने आदि के लिये देना। धर्म का पोषण करने के लिये दिया गया दान धर्मदान कहलाता है। जैसे-इन साधुओं ने धर्मवृद्धि के लिये ही संसार छोड़ा है, इनको देने से धर्म की वृद्धि होगी--इस विचार से देना। भविष्य में किसी उपकार की आशा से दिये गये दान को काहिदान कहते हैं। जैसे-मैं इन्हें दूंगा, तो ये मुझे पढ़ावेंगे इस विचार से देना। किसी उपकार के बदले में दिया गया दान कतन्तीदान कहलाता है। जैसे-इनने मुझे पढ़ाने का उपकार किया है, इनने मेरा पालन पोषण किया है, या इनने मेरा अमुक काम किया है-इस विचार से देना।

इन दस प्रकार के दान का फल, दान के नामों से ही प्रकट है। जैसे-अधर्मदान से अधर्म का फल होगा, और अनुकम्पादान से अनुकम्पा का फल होगा। इसी प्रकार लज्जादान से लज्जा का रहना, भयदान से भय का मिटना और संग्रह दान से कष्ट का मिटना आदि।

कुछ लोगों का कथन है कि धर्मदान के सिवा और सब दान, अधर्मदान के ही समान हैं और धर्म दान के सिवा दूसरे दानों का देना मांस-भक्षण तथा वेश्या-गमन के समान पाप है। फिर चाहे अनुकम्पा करके किसी अंधे या कोढ़ी को दिया गया हो, या अपने पर उपकार समझ कर माता-पिता को। लेकिन धर्मदान के सिवा शेष आठ दान को भी अधर्म-दान में मानना, जैनसिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध है। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकारों को दान के दोही भेद करने की आवश्य-कता होती। अर्थात् दस भेद न करके धर्मदान और अधर्म-दान ये दो भेद ही किये जाते। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। इसलिये इन दस प्रकार के दान में से नौ प्रकार के दान को एक ही श्रेणी में मानना उचित नहीं। इसके सिवा विचार-शक्ति से काम लेने पर भी धर्मदान के सिवा शेष दान, अधर्म दान में नहीं ठहरते। उदाहरण के लिये-अपने घर आये हुए मुनि को रोटी न देंगे तो अपकीर्ति होगी--इस लज्जा से--या ये मेरे स्वामी के गुरु हैं इन्हें रोटी न देने से मालिक नाराज हो जावेगा-इस भय से मुनि को दिया गया दान अधर्मदान-जो मांस-भक्षण और वेश्या-गमन के समान पाप माना जाता

है-कैसे हो सकता है? मतलब यह कि एकान्त धर्म तो धर्म-दान में है और एकान्त पाप अधर्मदान में है। शेष आठ दान में न एकान्त धर्म या पुण्य ही कहा जा सकता है, न एकान्त पाप ही कहा जा सकता है।

भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने तीसरा प्रश्न यह किया है कि सुवाहुकुमार ने पूर्वभव में क्या खाया था?

संसार में दो प्रकार के जीव हैं। एक तो वे जो खाने के लिये जीते हैं और दूसरे वे जो जीने के लिये खाते हैं। जो लोग खाने के लिये जीते हैं उनकी भावना यह रहती है कि मैं खाने के लिये ही जन्मा हूँ अतः खूब खालूं। ऐसी भावना वाले लोग भक्ष्याभक्ष्य तथा समय असमय नहीं देखते। वे तो केवल खाने ही में ध्यान रखते हैं। वे यह विचारना भी अनावश्यक समझते हैं कि हमारी इस भोजनशूरता से किसी जीव को कष्ट तो नहीं होता। भक्ष्याभक्ष्यविवेकरहित लोगों के लिये ही पशु पक्षी मारे जाते हैं, दीन दुःखी सताये जाते हैं और अनेक प्रकार के पाप होते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि संसार में पाप की वृद्धि भूखोंमरनेवाले लोगों की अपेक्षा इन खाने के लिये जीने वाले लोगों ने अधिक कीहै। यदि भक्ष्या-भक्ष्य का ध्यान रखा जावे तो इतना अधिक पाप न फैले। लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान वे ही लोग रख सकते हैं जो खाने के लिये न जीते हों, किन्तु जीने के लिये खाते हों।

जो लोग जीने के लिये खाते हैं उन लोगों का ध्येय यह नहीं रहता कि हम खाकर शरीर तथा उसकी शक्ति बढ़ावें और फिर पाप करें। किन्तु वे इस लिये खाते हैं कि हमारा शरीर बना रहे जिससे हम धर्म की सेवा कर सकें। क्योंकि धर्मसेवा के लिये शरीर का होना आवश्यक है और शरीर-रक्षा के लिये भोजन करना आवश्यक है। जीने के लिये खाने वाले भक्ष्याभक्ष्य का ध्यान रखते हैं। वे इस बात के लिये सदा चिन्तित रहते हैं कि हमारे खाने के कारण किसी जीव को अनावश्यक कष्ट न हो, और वह दिन कौनसा होगा जब हमारे कारण से किसी भी जीव को कष्ट न हो। यद्यपि खाने को तो दोनों ही तरह के लोग खाते हैं, परन्तु खाने के लिये जीने वाला तो पापप्रकृति बांधता है और जीने के लिये खाने वाला खाकर भी पुण्यप्रकृति बांध सकता है। मतलब यह कि खाने में भी फर्क है। एक खाना पाप के लिये होता है और एक धर्म के लिये। इसी को दृष्टि में रख कर गौतम स्वामी भगवान महावीर से पूछ रहे हैं कि सुबाहुकुमार ने ऐसा क्या खाया था जिसमें इसने पुण्यप्रकृति बांधली और इसे यह सम्पत्ति मिली।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न यह है कि सुबाहुकुमारने पूर्वभव में कौनसा आचरण किया था जो उसे यह मनुष्य-जन्म-सम्बन्धी ऋद्धि मिली।

मनुष्य यदि चाहे तो आचरण द्वारा सुबाहुकुमार कीसी ऋद्धि प्राप्त कर सकता है और यदि चाहे तो मृगालोढ़कासा

नर्क भी प्राप्त कर सकता है। सुख दुःख सम्पत्ति विपत्ति इष्ट अनिष्ट आदि बनना और प्राप्त होना आचरण पर ही निर्भर है। यद्यपि आचरण का साधन एक ही है, परन्तु उस साधन के उपयोग में ही इतना अन्तर हो सकता है, कि चाहे तो सुबाहुकुमार सा बन जावे और चाहे मृगालोढ़ सा। जैसे बोलने के लिये मुँह तो वही है परन्तु उस मुँह से चाहे ईश्वर का भजन करे या दूसरे की निंदा। सत्य बोले या झूठ। काम करने के लिये हाथ तो वेही हैं, परन्तु चाहे उन से उपकार करे या अपकार। रक्षा करे या मारे। धर्मदान दे या अधर्मदान। अनुकम्पादिदान दे या वेश्या को दे। पांव वे ही हैं, परन्तु उन्हीं पांवों से चाहे साधु के यहां जावे या वेश्या के यहां। मतलब यह कि आचरण का साधन तो एक ही है, परन्तु उस साधन का चाहे दुरुपयोग करे या सदुपयोग। उस साधन से चाहे बुरा आचरण करे या अच्छा आचरण। इसी में सुबाहुकुमारकी ऋद्धि भी मिलती है और मृगालोढ़ कासा दुःख भी। अर्थात् आचरण के साधन का सदुपयोग करके उन से अच्छा आचरण करें, तब तो सुबाहुकुमार की सी ऋद्धि है, और दुरुपयोग करके बुरा आचरण करें तो मृगालोढ़ का सा दुःख।

भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने पांचवां प्रश्न यह किया है कि सुबाहुकुमार ने पूर्वभव में किन महात्मा के पास आचार सम्बन्धी एक भी वचन सुन कर उसे हृदय में धारण किया था।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न से प्रकट है कि महात्माओं के वचन में भी सुबाहुकुमार कीसी मनुष्य जन्म की ऋद्धि प्राप्त कराने की शक्ति होती है। वास्तव में महात्माओं के वचनों की शक्ति अवर्णनीय है। बात चाहे वही हो जिसे एक साधारण मनुष्य भी जानता है और कहता है, लेकिन उसी बात को जब महात्मा लोग अपने मुख से कहेंगे, तब उस बात में विचित्र शक्ति आजावेगी। वह शक्ति महात्माओं के त्याग और तपस्या की होती है। त्याग तपस्या द्वारा बलवान् आत्मा वाले की बात भी बलवती होती है। साधारण मनुष्य द्वारा कही गई बात में, महात्माओं द्वारा कही जाने वाली बात के समान शक्ति नहीं होती। क्योंकि (साधारण) मनुष्यों में त्याग और तप का वह बल नहीं होता, जो महात्माओं में होता है। इस के सिवा साधारण मनुष्यों की बात वैसी अनुभूत नहीं होती जैसी अनुभूत महात्माओं की होती है। साधारण मनुष्य कहता तो कुछ और है तथा करता कुछ और। अर्थात् जो बात वह कहता है, उसका पूरी तरह पालन वह स्वयं भी नहीं करता। लेकिन महात्मा लोग पहिले स्वयं उस बात के अनुसार चलते हैं, तब दूसरे को कहते हैं। इसलिए महात्माओं का एक वचन सुनकर भी हृदय में धारण करने से सुबाहुकुमार कीसी ऋद्धि प्राप्त हो सकती है। महात्माओं के एक वचन में भी जब यह शक्ति है तो अनेक वचनों में कैसी शक्ति होगी, यह तो अनुमान से सहज ही जाना जा सकता है।

७

पूर्व कथा

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयंत्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्-आत्मा अमर है। इसे न तो शस्त्र छेद सकता है, न अग्नि जला सकती है, न पानी डुबा सकता है और न पवन सुखा सकता है।

संसार में जितने भी आस्तिक कहलाने वाले मत-मतान्तर हैं, पुनर्जन्म को वे सभी मानते हैं। ऐसा कोई भी आस्तिक मत न होगा, जो पुनर्जन्म को न मानता हो। जो पुनर्जन्म को नहीं मानते उनके समीप आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है और आत्मा का अस्तित्व न मानने वाले आस्तिक नहीं, किन्तु नास्तिक हैं। आत्मा का अस्तित्व आस्तिक शास्त्रों से तो सिद्ध ही है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने भी आत्मा का अस्तित्व माना है। और अनुभव भी यही कहता है कि आत्मा का अस्तित्व है। डा. एनीबेसेण्ट प्रारम्भ में आत्मा का अस्तित्व नहीं मानती थीं। लेकिन उनके जब प्रथम पुत्र हुआ और अनेक भौतिक उपायों के करने पर भी बालक जीवित न रहा तब उन्हें अपनी मान्यता के विषय में सन्देह हुआ। वे विचारने

लगीं कि गर्भ की रक्षा के लिये जो उपाय किये जाने चाहियें वे उपाय भी मैंने किये, बालक की रक्षा के लिये भी मैंने सब उपाय किये, भौतिक उपायों में मैंने किसी प्रकार की कोई कमी नहीं रखी, फिर यह बालक क्यों मर गया? अवश्य ही इस बालक के साथ पूर्व के कोई ऐसे संस्कार थे, जिनके कारण से मेरे द्वारा किये गये समस्त भौतिक उपाय असफल रहे और बालक मर गया। इस प्रकार विचार कर वे इस निश्चय पर पहुंची, कि वास्तव में आत्मा का अस्तित्व है और जब आत्मा का अस्तित्व है तो पुनर्जन्म भी निश्चय ही है।

पत्रों में प्रकाशित एक घटना से भी आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म सिद्ध है। वह घटना इस तरह सुनी जाती है कि मद्रास प्रान्त के किसी ग्राम में एक लड़की थी। जब वह लड़की पांच छः वर्ष की थी तब एक दिन अपनी मां के साथ पास के किसी गांव को गई। लड़की जब गांव के समीप पहुंची और उसने वहां के नदी वृक्ष घर आदि देखे, तब वह अपनी मां से कहने लगी कि यह गांवतो मेरा है! इसे तो मैं जानती हूँ! इसमें तो मैं रहती थी! जिस घर में मैं रहती थी, वह अमुक स्थान पर है। उसका दर्वाजा अमुक ओर है और उस घर के पास अमुक अमुक के घर हैं। मेरे इतने लड़के लड़की थे, उनके नाम ये ये थे।

लड़की की बात सुन कर माता को बहुत आश्चर्य हुआ। उस ग्राम में वह जिसके यहां गई थी, उसके घर पहुँच कर

उसने उस घर के लोगों से लड़की की सब बात कही। घर वालों को लड़की की बात ठीक जँची। वे उस लड़की को लेकर उसी घर गये जिसे वह अपना बताती थी। वहां उसने सब बातें ठीक बताईं और कुछ ऐसी बातें भी बताईं, जो घर के लोगों को मालूम न थीं, परन्तु जाँच करने पर ठीक निकलीं।

मतलब यह कि आत्मा का अस्तित्व है और अस्तित्व है इससे पुनर्जन्म भी है। शरीर और आत्मा एक नहीं, किन्तु भिन्न भिन्न हैं। शरीर जड़ है और आत्मा चैतन्य शरीर नाशवान है और आत्मा अनाशवान। शरीर से आत्मा का उतनी ही देर तक सम्बन्ध है, जब तक कि वह इस शरीर में रम कर बैठा है। अधिक कोई संबन्ध नहीं है। गीता में भी कहा है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहायजीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

अर्थात्-जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र तज कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड कर नया शरीर धारण करता है।

आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म के विषय में सन्देह की कोई बात नहीं है।

आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म न मानने से पारलौकिक हानि तो है ही, लेकिन लौकिक हानि भी है। यदि आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म न माना जावेगा, तो लोगों में अनीति की वृद्धि होगी। फिर हिंसा चोरी झूठ पर-स्त्री गमन आदि पापों से कोई भय न करेगा। ऐसी दशा में, अर्थात् संसार में एक दूसरे को मारने लगे, एक दूसरे से झूठ ही झूठ बोलने लगे, एक दूसरे की चोरी करने लगे और एक दूसरे की स्त्री को ताकने लगे, तो कैसी अनीति फैल जावेगी, यह प्रत्येक आदमी सहज ही जान सकता है। इस बात को दृष्टि में रख कर भी आत्मा के अस्तित्व और पुनर्जन्म पर विश्वास करना उचित है।

आत्मा का अस्तित्व न मानने वाले अर्थात् नास्तिकों का जीवन शुष्क और नीरस रहता है। उनके जीवन का कोई लक्ष्य नहीं रहता, और यदि कोई लक्ष्य रहता भी है, तो केवल अपने आराम का। अपने आराम के लिये ऐसे लोग दूसरे के सुख दुःख और हानि लाभ की चिन्ता नहीं करते। यदि सभी मनुष्य नास्तिक हो जावें, उन में आस्तिकता न रहे, सभी अपने आराम के लिये दूसरे के सुख दुःख और हानि लाभ की पर्वाह न करने लगें, तो संसार में भारी विषमता छाजावेगी। इस बात को दृष्टि में रखकर भी आत्मा का अस्तित्व और पुनर्जन्म मानना उचित है। अस्तु।

गौतम स्वामी के उक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिये, सुबाहुकुमार के पूर्वभव का संक्षिप्त वर्णन करना, भगवान के लिये आवश्यकता हो गया। ऐसा करने में गौतम स्वामी के प्रश्न भी हल हो जाते हैं और इन प्रश्नों का उत्तर सुनने के समय फिर कोई प्रश्न नहीं उठता। इसके सिवा शृंखलाबद्ध कथा समझ में शीघ्र आती है, तथा उसका स्मरण भी रहता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में, भगवान कहने लगे—

हे गौतम! यह सुबाहुकुमार पूर्वभव में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नामक नगर में रहता था।

जैन शास्त्र पुराण और इतिहास में हस्तिनापुर एक प्रसिद्ध स्थान है। हस्तिनापुर न मालूम किस समय से न मालूम किस समय तक भारतवर्ष की राजधानी रहा है। महाभारत प्रसिद्ध पांडवों की राजधानी भी हस्तिनापुर में ही थी। आज कल हस्तिनापुर का स्थान दिल्ली को प्राप्त है। अर्थात् हस्तिनापुर की जगह या उसके समीप दिल्ली नामक नगर बसा हुआ है। दिल्ली भी बहुत समय से भारत की राजधानी है। यद्यपि अंग्रेजों ने पहिले कलकत्ते को अपनी राजधानी बनाई थी लेकिन क्षेत्र में भी न मालूम कौनसी शक्ति होती है, कि अंग्रेजों को भी अपनी राजधानी दिल्ली ही लानी पड़ी।

भगवान कह रहे हैं-पूर्वभव में सुबाहुकुमार हस्तिनापुर नाम के ऋद्धि सम्पन्न नगर में रहता था। उस समय इसका नाम सुमुख गाथापति (गृहपति) था।

गाथापति या गृहपति, घर या कुटुम्ब के मुखिया को कहते हैं। घर या कुटुम्ब का मुखिया वही हो सकता है, जो इसके योग्य हो। जिस प्रकार राजा में शासन-क्षमता का होना आवश्यक है, उसी प्रकार गृहपति या मुखिया भी वही हो सकता है, जिसमें शासनक्षमता हो। जो स्वार्थी है, जो अपना पेट तो भर लेता है लेकिन दूसरे की ओर ध्यान नहीं देता, जो अतिथिसत्कार नहीं जानता, वह गृहपति या मुखिया होने के अयोग्य है। गृहपति या मुखिया उदार-प्रकृतिवाला सबको शान्तिदाता और उत्साही होता है। अपने में किसी प्रकार की शक्ति होते हुए वह दूसरे को दुःख में नहीं देख सकता, न मर्याद ही भंग करता है। मुखिया कैसा आदमी हो सकता है, इसके लिये कहा है:—

मुखिया मुख सों चाहिये, खान पान कँह एक।
पालइ पोषइ सकल अँग, तुलसी सहित विवेक॥

तुलसीदासजी कहते हैं, कि मुखिया ऐसा होना चाहिये जैसा शरीर के लिये मुंह। यद्यपि खाता पीता तो मुंह है, लेकिन वह अपने लिये कुछ न रख कर शरीर के दूसरे अंगों का विवेक सहित पालन करता है।

सुमुख ऐसा ही था। उस में ऊपर कहे हुए सब गुण विद्यमान थे। सुमुख के बड़े बड़े भवन थे, जो धान्य शय्या आसन यान वाहन आदि से भरे थे। उसके यहां गाय भैंस

आदि पशु भी बहुत थे। दास दासी भी थे और कृषि के लिये भूमि भी थी। उस के घर में स्वर्णादिक धन भी बहुत था। वह उस धन से उचित लाभ लिया करता था।

संसार में धन सम्पन्न होने में उतनी विशेषता नहीं है, जितनी विशेषता धन का सदुपयोग करने में है। प्रशंसा उसी ऋद्धि वाले की होती है, जो अपने धन का सदुपयोग करता हो। कृपण या दुराचारी के धनी होने पर भी उसकी या उसके धन की प्रशंसा कोई नहीं करता। क्योंकि कृपण के धन से तो किसी को लाभ नहीं पहुंचता है और दुराचारी के धन से दूसरे को हानि पहुंचती है। इसलिये कृपण या दुराचारी के द्रव्य की प्रशंसा नहीं होती। किन्तु उसके द्रव्य की प्रशंसा होती है, जो अपने द्रव्य का सदुपयोग करता हो। द्रव्य के सदुपयोग का अर्थ है-द्रव्य को ऐसे काम में व्यय करना, जिससे पाप रुके और धर्म की वृद्धि हो। जिस प्रकार एक दीपक में तेल होने पर भी, उस समय तक उसका होना न होना बराबर है, जब तक कि वह अपने तेल को बत्ती द्वारा अग्नि में नियमित रूप से न जलावे। इसी प्रकार, उस समय तक धन का होना न होना बराबर है, जब तक कि उसे शुभ कार्य में न व्यय किया जावे। नियमित रूप से तेल देने और अधिक समय तक प्रकाशित रखने के बदले एक ही बार जलकर बुझ जानेवाला दीपक जैसा हानिकारक हो सकता है--उससे आग लगजाने का

विशेष या जाति विशेष का पक्षपात उस समय न था। उस समय के लोगों में यह भेद न था, कि ये अमुक धर्म के साधु हैं, अतः इनका सत्कार उसी धर्म के लोग करेंगे; किन्तु अपने द्वार पर आये हुए प्रत्येक व्यक्ति का-फिर वह चाहे शत्रु ही क्यों न हो-सत्कार करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस समय की तरह भोज्य-सामग्री आदि भी उस समय महंगी नहीं होती थीं, जिसमें घर आये हुए को भोजन देने में कुछ बुरा लगे या कठिनाई जान पड़े। इसके सिवा उस समय के लोग इतना भोजन नहीं बनाते थे, जिससे केवल अपना ही पेट भरा जासके, किन्तु इस प्रमाण से बनाते थे कि जिसमें आगन्तुक का भी सत्कार किया जासके। भले घरों में आज भी ऐसा ही होता है। अपने ही पेट इतना भोजन बनानेवाले लोगों की गणना नीच लोगों में होती थी। ऐसी दशा में एक विशाल नगर में इतने मुनियों को भोजन मिल जाना, कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही बात पानी के लिये भी है। शास्त्र में पाठ आया है

असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति।

अर्थात्-अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य भोजन बनवाया।

इस पाठ से प्रकट है कि भोजन की ही तरह पानी भी निपजाया जाता था। अर्थात् जिस प्रकार कच्चे अन्न को अग्नि आदि के संस्कार से निष्पन्न किया जाता था, उसी प्रकार पानी भी अग्नि आदि के संस्कार से पकाया जाता था। जब

संसार के त्यागियों में धर्मस्थविर होते हैं। जिस प्रकार राष्ट्रस्थविर का काम, सुव्यवस्था द्वारा राष्ट्र में शान्ति स्थापित करना है, उसी प्रकार धर्मस्थविर का काम, धर्म द्वारा संसार में शान्ति स्थापित करना है। जिस प्रकार राजा के पश्चात् प्रधान का नम्बर आता है। उसी प्रकार तीर्थंकर के पश्चात् स्थविर का नम्बर है। स्थविर का काम है, तीर्थंकर के वचनों का प्रसार करना। स्थविर कैसा होना चाहिए, यह बात उसी बात पर से जानी जा सकती है-जो गृहपति या मुखिया के विषय में कही गई है।

पांचसौ मुनियों सहित धर्मघोष स्थविर, हस्तिनापुर नगर के सहस्राम्रवन नाम के उद्यान में पधारे और वहां पर स्थान जमा कर धर्म ध्यानादि में तल्लीन हो गये।

भगवान महावीर के साथ के साधु साध्वियों की, तथा धर्मघोष मुनि के साथ के साधु साध्वियों की संख्या को देखकर आजकल के लोगों का यह तर्क करना स्वाभाविक है, कि एक नगर में इतने साधु साध्वियों को भोजन पानी कैसे प्राप्त होता होगा? इस तर्क का समाधान करना उचित है, अतः यही किया जाता है।

पहिले के लोगों में अतिथि-सत्कार का गुण बहुत अधिक मात्रा में था। उस समय के लोग इस बात के लिये सदा लालायित रहा करते थे, कि हमारे यहां अधिकाधिक संख्या में अतिथि आवें और हम उनका योग्य सत्कार करें। धर्म

सुमुख के पूर्व-भव का परिचय देकर गौतमस्वामी से भगवान कहने लगे-गौतम, उस हस्तिनापुर नगर के समीप सहस्राम्रवन नाम का एक उद्यान था। उस उद्यान में पांचसौ मुनियों सहित धर्मघोष नामके स्थविर मुनि पधारे। धर्मघोष मुनि उत्तम माता-पिता से उत्पन्न हुए थे। उनकी शरीराकृति बहुत अच्छी थी। वे, ज्ञान दर्शन और चारित्र से युक्त थे। एक उत्तम मुनि में जो गुण होने चाहिएँ, धर्मघोष मुनि में वे सब विद्यमान थे।

गृहस्थ हो या विरक्त, माता--पिता की उत्तमता का प्रभाव दोनों पर समान रूपसे पड़ता है। उत्तम माता-पिता से उत्पन्न सन्तान अपने ध्येय को कदापि नहीं भूलती। फिर वह ध्येय चाहे लौकिक हो, या लोकोत्तर। अपने ध्येय गौरव और कार्य की उत्तमता का उसे सदा ध्यान रहेगा। यही कारण है कि साधुओं के लिये भी माता-पिता की उत्तमता देखी जाती है।

पहले के लोगों के नाम देखने से प्रकट है, कि पूर्व समय में अधिकांश लोगों के नाम सार्थक होते थे। धर्मघोष का अर्थ है, धर्म का घोष करके लोगों में धर्म को फैलाना। धर्मघोष मुनि में अपने नाम के अनुसार गुण विद्यमान थे। इसी से उनका नाम धर्मघोष स्थविर था।

शास्त्रानुसार स्थविर पद बहुत बड़ा है। संसार में जिस प्रकार कुलस्थविर, राष्ट्रस्थविर आदि होते हैं, उसी प्रकार

८

मुनि-आगमन ।

संसार में वे मनुष्य तो धन्य मानेही जाते हैं, जो संसारके विषय-सुख को त्याग कर संयम लेते हैं, लेकिन वे लोग भी धन्य माने जाते हैं, जो संयमी को उसके संयम पालन में किसी प्रकार की सहायता देते हैं। संयम में सहायता देनेका योग मिलना भी बड़ी पुन्वानी का काम है। जिसमें पुन्वानी नहीं है, वह घर में मुनि के आजाने पर भी और धर्म का योग मिलनेपर भी मुनि का तिरस्कार करके-उन्हें दुर्वचन कहकर-पाप चाहे बांध ले, परन्तु पुण्य-प्रकृति नहीं बांध सकता। उसका पूर्व-पाप, पुण्योपार्जन के समय बाधक हो जाता है। चाहे वह दिखने में पुण्यवान् हो, धन सम्पत्ति आदि सांसारिक सुखों से सम्पन्न हो, परन्तु उसका यह पुण्य पापानुबन्धी है; जो पापही कराता है, धर्म नहीं कराता। धर्म तो वही पुण्य करावेगा, जो पुण्यानुबन्धी हो। मतलब यह कि मुनि का अपने घर आना और अपने हाथ से ऐसे कार्य का होना-जो संयम में सहायक हो-बड़ी पुन्वानी का काम है।

यहां आये हुए का तिरस्कार करता रहे — तो मुनि रूपी राज-हंस को प्राप्त करना भी कठीन है। सुमुख के यहां मुनि रूपी राजहंस आये थे, इससे यह प्रकट है कि उसमें दान का गुण था और उसके यहां अन्य भिक्षुक रूपी साधारण पक्षी भी आते रहते थे।

सुमुख का रहन सहन और आचरण ऐसा था, कि उसका कोई पराभव नहीं कर सकता था। हिंसा झूठ आदि पाप और दुराचरण उससे सदा दूर रहते थे।

सम्पत्ति के होने पर भी यदि आचरण अच्छा न हुआ तो उस सम्पत्तिवान का पराभव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार रावण का पराभव हुआ था। रावण के पास सम्पत्ति की कमी नहीं थी, यदि कमी थी तो केवल शुद्धाचरण की। इस कमी के कारण से ही उसका पराभव हुआ था। लेकिन सुमुख का आचरण ऐसा था कि उसका कोई पराभव नहीं कर सकता था।

सुमुख, भक्ष्याभक्ष्य का बहुत विचार रखता था। खाने-पीने में वह उन्हीं वस्तुओं को काम में लेता, जो अभक्ष्य न होतीं। यदि उसके यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विचार न रखा जाता और अभक्ष्य वस्तुएं काम में लाई जातीं तो उसे मुनि को आहार पानी प्रतिलाभने का योग कैसे मिलता? उसे यह सुयोग मिला, इससे प्रकट है कि सुमुख के यहां भक्ष्याभक्ष्य का पूरी तरह विचार रखा जाता था।

गया। और उसने अपना हाथ तख्ते के छेद से इस प्रकार लगा-कर रखा कि जिसमें ऊपरसे उसका शरीर न दिखे, न हाथ ही दिखे, परन्तु उसके हाथ का छाला स्पष्ट दिखाई दे। उस छाले के आस पास मोती बिखेर दिये गये। वहाँ पर दूसरे पक्षियों के लिये भी आहार पानी रख दिया गया। आहार पानी देख देख कर बहुत से पक्षी उस मकान की छत पर आने लगे। एक दिन उधर से राजहंस भी निकला। बहुत से पक्षियों को चुगते देख कर वह भी नीचे उतरा। छतपर उस के लिये भी मोती बिखरे हुए थे, इसलिये वह भी मोती चुगने लगा। मोतियों के बीच में ही राजा के हाथ का वह मोती सा छाला भी था। राजहंस ने मोती के ही भरोसे उस छाले पर भी चोंच मारी, जिससे छाला फूट गया और राजा को शान्ति हुई।

इस राजा को यद्यपि काम तो था राजहंस से, इसे बुलाना तो था राजहंस, परन्तु राजहंस बुलाने के लिये इसे दूसरे साधारण पक्षियों का भी सत्कार करना पड़ा – उन्हें भी भोजन पानी देना पड़ा। दूसरे पक्षियों को देखकर ही राजहंस उतरा था। यदि राजहंस की इच्छा रखतेहुए राजा दूसरे पक्षियों को उड़ा दिया करता, तो राजहंस भी उसे न मिलता। इसी प्रकार गृहस्थ की भावना तो यही रहती है कि मेरे हाथ से किन्हीं सन्त मुनिराज को दान दिया जा सके, परन्तु यदि इस विचार से वह साधारण भिक्षुकों को कुछ न दे-अपने

एक राजा के हाथ में एक छाला होगया। वह छाला था तो मोती सा, परन्तु था बहुत जहरी। वैद्यों ने राजा का छाला देखकर राजासे कहा कि इस छाले से प्राण तक चले जाते हैं। यह बहुत जहरी है। यदि इसका उपाय न किया गया, तो किसी तरह भी प्राण नहीं बच सकते। राजा ने वैद्यों से छाले का दुष्प्रभाव मिटाने का उपाय पूछा। वैद्योंने कहा कि यह छाला यदि राजहंस की चोंच से फूटे,तो इससे किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती। इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

वैद्यों की बात सुनकर राजा विचार में पड़गया कि राज-हंस कैसे और कहां मिले, जो उसकी चोंच से यह छाला फूटे! कदाचित राजहंस को पकड़वाकर मंगवाया जावे, तो इस प्रकार वह छाला क्यों फोड़ने लगेगा? अन्त में यह निश्चय हुआ कि समुद्र के तटपर एक ऐसा स्थान बनवाया जावे, जहां पर सब पक्षी आसकें। उस स्थान में ऊपर को तख्ते लगायें जावें। एक पतले तख्ते में छेद रखा जावे। तख्तों के नीचे राजा लेटा रहे और अपना हाथ उस के पास इस प्रकार रखे कि ऊपर से राजा तो नज़र न आवे, परन्तु उसके हाथ का छाला नज़र आता रहे।

उक्त विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिये समुद्र के किनारे एक मकान बनाकर उसकी छतपर तख्ते लगाये गये। तख्तों में एक छेद रखा गया। तख्तों के नीचे राजा लेट

भय रहता है तथा तेल जल जानेपर अन्धेरा होजाता है-उसी प्रकार वह धनिक भी है, जो अपने द्रव्य को मौज-मजे के लिये तथा व्यर्थ की प्रशंसा के लिये उड़ाता है। मतलब यह कि मनुष्य रूपी दीपक के पास धनरूपी तेल का होना तभी सार्थक है, जब वह विवेक रूपी वत्ती द्वारा अपने धन रूपी तेल को सद्कार्यरूपी अग्नि में धीरे-धीरे जलावे (व्यय करे) और धर्मरूपी गृह को प्रकाशित रखे।

सुमुख के पास बहुत धन था, परन्तु धन होते हुए भी वह एक प्रकार से निष्परिग्रही था। वह अपने धन को समय समय पर सद्कार्य में उसी प्रकार व्यय किया करता था, जिस प्रकार दीपक अपना तेल, वत्ती द्वारा अग्नि को देता रहता है।

सुमुख यदि अपने धन को सद्कार्यों में न लगाता होता उसमें यदि अतिथि सत्कार और दीन भिक्षुकों को दान देने का गुण न होता, तो उसके यहां मुनि क्यों आते और अपने स्वभाव के विपरीत वह उन्हें भोजनपानी कैसे देता? मुनि का आना और सुमुख का उनको दान देना इस बात का द्योतक है कि सुमुख में उक्त गुण थे। क्योंकि जहां से साधारण पक्षी भी उड़ा दिया जाता है, वहां राजहंस कैसे जावेगा? राज हंस तो वहीं पर जावेगा, जहांसे साधारण पक्षी न उड़ाये जाते हों, किन्तु उन्हें आहार मिलता हो। इसके लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है।

सभी लोग ऐसे पानी को व्यवहार में लाते हों-जो विशिष्ट क्रिया से पकाया गया हो-तो मुनियों को पानी मिलने में क्या असुविधा हो सकती है? इसके सिवा यह भी कैसे कहा जा सकता है, कि साथ में जितने साधु होते थे, उन सबको भोजन पानी की नित्य ही आवश्यकता होती हो! सम्भव है कि उनमें से अधिकांश सुदत्त मुनि ऐसे हों-जिन्हें एक वर्ष में केवल ग्यारह बार ही भोजन की आवश्यकता होती थी।

धर्मघोष मुनि के साथ में उनके एक शिष्य सुदत्त नाम के मुनि थे। सुदत्त मुनि बहुत तपस्वी थे। वे एक एक मास की तपस्या तो सदा ही किया करते थे। एक मास की तपस्या करके, वे इकतीसवें दिन भोजन करते थे और बत्तीसवें दिन से फिर एक मास की तपस्या प्रारम्भ कर देते थे। यद्यपि उनका शरीर तो तपस्या के कारण से दुर्बल होगया था, लेकिन आत्मा दुर्बल नहीं हुआ था, बलवानही था।

बहुत से लोग तपस्या को इसलिये कठिन मानते हैं, कि तपस्या से शरीर दुर्बल होजाता है। परन्तु ऐसे लोग यह विचारने का कष्ट नहीं करते कि वास्तव में हानिप्रद दुर्बलता शरीर की है, या आत्मा की! जिसका आत्मा बलवान है, उसका शरीर चाहे दुर्बल भी हो; फिर भी वह सशक्त है, लेकिन जिसका आत्मा कमजोर है और शरीर हृष्टपुष्ट है, उसकी शारीरिक मोटाई तथा शक्ति का मूल्य एक भैंसे की मोटाई

तथा शक्ति की अपेक्षा अधिक नहीं है। इसलिये शरीर को बलवान बनाने की अपेक्षा, आत्मा को बलवान बनाने की आवश्यकता अधिक है। तप से आत्मा बलवान होता है। बलवान आत्मा वाले को न तो कभी कोई दुःख दे ही सकता है, न वह कभी अपने को दुःखी मानता ही है।

आज सुदत्त मुनि का पारणे का दिन है। उन्होंने सब से पहले अपने आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर एक प्रहर दिन चढ़ने तक स्वाध्याय किया।

साधारण लोग कहते हैं कि उपवास होने पर-शारीरिक अशक्तता के कारण-स्वाध्याय नहीं हो सकता। लेकिन उनका यह कथन अनुभूत नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वाध्याय का सम्बन्ध आत्मा से है, न कि शरीर से। और जिन लोगों ने उपवास तपस्या आदि का अनुभव किया है, उनका कथन है कि तपस्या से शरीर जैसे जैसे कृप होता है, आत्मा की भावनाएँ वैसे ही वैसे प्रबल होती हैं। उपवास तथा तपस्या के समय आत्मा में जैसी चैतन्यता होती है, वैसी चैतन्यता भोजन करने पर नहीं हो सकती। ऐसी प्रबल भावनावाला और अधिक चैतन्यता-युक्त आत्मा तत्त्व विषयक जो विचार कर सकता है, वैसा विचार इसके विपरीतावस्था वाला नहीं कर सकता। यह बात गांधी जी ने भी स्वीकार की है। जिन लोगों का यह कथन है कि उपवास के समय स्वाध्याय नहीं हो

सकता, ये लोग यदि निष्काम तप करें तो वे भी इस बात को स्वीकार करेंगे।

सुदत्त मुनि ने पहले प्रहर में स्वाध्याय किया और दूसरे प्रहर में ध्यान किया।

इन्द्रिय सहित मनको एकाग्र करके आत्म-चिन्तन या ईश्वर-चिन्तन का नाम ध्यान है। ध्यान करने के लिये यह आवश्यक है कि इन्द्रियाँ और मन को एकाग्र किया जावे। चंचल इन्द्रिय तथा मन वाला, ध्यान नहीं कर सकता। शरीर तथा आत्मा के लाभ की दृष्टि से, ध्यान का होना उतना ही आवश्यक है, जितना आवश्यक स्वास्थ्य के लिये व्यायाम मानी जाती है। व्यायाम से तो केवल शरीर को ही लाभ पहुँचता है, लेकिन ध्यान से आत्मा और शरीर दोनों को ही लाभ पहुँचता है।

ध्यान से निवृत्त होकर तीसरे-प्रहर में सुदत्त मुनि ने अपने पात्रादि का पुनःप्रतिलेखन किया और भोजन-भिक्षा की आज्ञा प्राप्त करने के लिये अपने गुरु धर्मघोष मुनि की सेवा में उपस्थित हुए। उनमें इस बात की चंचलता नहीं थी, कि मैं कब भिक्षा-करके लाऊँ और कब भोजन करूँ।

धर्मघोष स्थविर के साथ पांचसौ मुनि थे। यदि सुदत्त मुनि चाहते तो इनके लिये दूसरे मुनि भोजन ला सकते थे और-एक मास की तपस्या होने पर भी उनको स्वयं को

भिक्षा के लिये जाने की आवश्यकता न होती। लेकिन वे मुनि विशिष्ट क्रियावान थे, इसलिये किसीके आश्रित होकर रहना पसन्द नहीं करते थे। उनका यह सिद्धान्त था कि जब तक हममें शक्ति है, हम दूसरे के सहारे नहीं रहेंगे।

पूर्व के महात्मा एक मास के पारणे के लिये भी स्वयं भिक्षा को जाते थे, इससे आज के लोगों को यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक मनुष्य को स्वावलम्ब का पाठ सीखना चाहिए। स्थानांग सूत्र के चौथे ठाणे में भी स्वावलम्बी को सुखशय्या पर और परावलम्बी को दुःखशय्या पर सोनेवाला कहा है। शक्ति होते हुए दूसरे के सहारे रहनेवाला मनुष्य घृणा की दृष्टि से देखाजाता है। संसार में वे ही लोग दुःखी हैं जो दूसरे के सहारे हैं। वर्तमान समय में व्यापारी-संसार में जो हल-चल है-व्यापारी लोग अपने आपको हानि में बता रहे हैं, इसका प्रधान कारण यह है कि उनका व्यापार स्वतन्त्र नहीं, किन्तु दूसरे के सहारे है और वे दूसरों के दल्लालमात्र हैं। यदि उनका व्यापार स्वतन्त्र होता तो उन्हें इस प्रकार चिल्लाहट मचाने की आवश्यकता न होती। पहिले के लोग अपनी आजीविका के लिये ऐसा स्वतन्त्र उद्योग करते थे, जिसमें दूसरे के कारण से अपने आपको हानि पहुँचने का समय बहुत कम आता था। उदाहरण के लिये आनन्द तथा कामदेव श्रावक की कथा में उनके स्वतन्त्र उद्योग की ओर दृष्टिपात करना पर्याप्त है। आनन्द तथा कामदेव आदि

श्रावकोंके चालीस-चालीस साठ-साठ और अस्सी-अस्सी हजार गौएँ थीं और कृषि होती थी। इस स्वतन्त्र उद्योग में उन्हें आज कीसी किसी विपत्ति के आने की आशंका नहीं रहती थी। इस लौकिक उदाहरण से मतलब यह है कि दुःख तभी है, जब अपना जीवन परतन्त्र यानी दूसरे के आश्रित हो। इस बात को दृष्टि में रखकर ही पूर्व के महात्मालोग एक मास की तपस्या होनेपर भी स्वयं भिक्षा को जाते थे। स्वयं भगवान महावीर छः मास की तपस्या होनेपर भी भिक्षा को पधारे थे।

गुरु के पास आकर तथा उन्हें वन्दनादि करके सुदत्त मुनि ने उनसे प्रार्थना की-भगवन्! आज मेरा आहार करने का दिन है, इसलिये मैं हस्तिनापुर नगर में भिक्षा के लिये जाना चाहता हूं। मुझे आज्ञा प्रदान कीजिये। मैं किसी गृह या कुल विशेष में ही भिक्षा के निमित्त नहीं जाऊंगा किन्तु सभी--ऊंच, नीच और मध्यम--के यहां जाऊंगा।

किसी गृह विशेष को लक्ष्य करके भिक्षा के लिये जाना, मुनि का कार्य नहीं है। जिस प्रकार भ्रमर विना पहिले से निश्चय किये ही फूलों की सुगन्ध लेनेके लिये निकलता है, उसी प्रकार मुनि भी विना निश्चय किये भिक्षा लेने को निकलते हैं। उनके समीप दीन और श्रीमन्त समान हैं, अतः वे भिक्षा के लिये सबके यहां समानरूप से जाते हैं। हाँ, जिनका आचरण बुरा है, जिनकी आजीविका हिंसा द्वारा होती है,

और जिनके यहां भक्ष्याभक्ष्य का विचार नहीं रखा जाता, तथा जहां मुनि को अपने कल्पानुसार भिक्षा मिलने की आशा नहीं होती, ऐसे निन्दित कुलवालों के यहां स्थिवर कल्पी मुनि, भिक्षा के लिये नहीं जाते। जो मुनि, विना कारण किसी घर को लक्ष्य करके भिक्षा करने जाते हैं, वे मुनि-धर्म के नियम का उल्लंघन करने वाले हैं। इसी लिये सुदत्त मुनि ने अपने गुरु से यह पहले ही कह दिया, कि मैं किसी गृह या कुल विशेष में ही भिक्षा के निमित्त नहीं जाऊंगा।

सुदत्त मुनि की विनम्र प्रार्थना के उत्तर में धर्मघोष स्थविर ने उन्हें भिक्षा के लिये जाने की स्वीकृति दी। गुरु की आज्ञा पाकर उन्होंने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया।

मुनि-संघ का यह नियम है, कि सन्त लोग स्वाध्यायादि धर्मध्यान के कार्यों के सिवा कोई भी कार्य, विना आचार्य या प्रमुख सन्त की स्वीकृति के न करें। इसीलिये सुदत्त मुनि को भिक्षा के लिये अपने गुरु से स्वीकृति लेनी पड़ी।

९
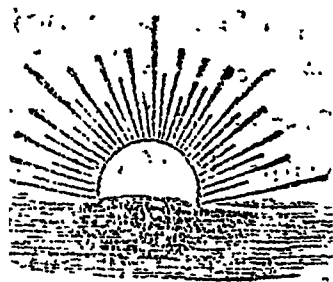
उत्तम-दान

दान की संक्षिप्त व्याख्या पहिले की जा चुकी है और यह बतलाया जा चुका है, कि दान में सबसे उत्तम दान अभय-दान या सुपात्र-दान है। जिस प्रकार अनुकम्पा-दान दया से द्रवित हृदय वाला ही-जिसके हृदय में करुणा की प्रेरणा है, वही-करता है, उसी प्रकार सुपात्रदान का योग भी उसे ही मिलता है, जिसकी बड़ी पुन्यानी हो। प्रत्येक मनुष्य को सुपात्रदान का योग नहीं मिल सकता।

सुदत्त मुनि, एक मास के पश्चात् एक दिन, अर्थात् एक वर्ष में केवल ग्यारह बार भोजन करते थे। उनके शेष दिन, तपस्या में ही व्यतीत होते थे। तपस्या तो ये मुनि करते थे, लेकिन इनके पारने के दिन इन्हें आहार पानी प्रतिलाभ कर न मालूम किन किन ने सुकृत कमाया होगा। उन सब के इतिहास में से, केवल सुमुख गाथापति का ही यह इतिहास है।

धर्म की आकर्षण-शक्ति बड़ी जबरदस्त होती है। सुदत्त, ऐसे तपस्वी मुनि को अपने घर खींचलाने और उनको दान देनेका योग मिलाने की शक्ति, धर्म में ही है। सुमुख गाथापति

में धर्म की आकर्षण-शक्ति मौजूद थी। यही शक्ति सुदत्तमुनि को सुमुख के घर खींच लाई।

हस्तिनापुर नगर के घरों में भिक्षा करते हुए, सुदत्त मुनि ने सुमुख गृहपति के घर में प्रवेश किया। अपने यहां मुनि को आते देख कर सुमुख उसी प्रकार हर्षित हो उठा, जिस प्रकार वर्षा होने से मोगरा हर्षित हो उठता है।

सुमुख के घर मुनि के आने और सुमुख के हर्षित होने से यह प्रकट है, कि सुमुख की धर्म-पुण्य सम्बन्धी प्रकृति उत्तम थी। वह शान्त और परोपकारी था। उसका हृदय कपटयुक्त नहीं था, किन्तु शुद्ध था। यदि ऐसा न होता, तो पहिले तो उसके यहां मुनि के आने का योग मिलना ही कठिन था। कदाचित मुनि आ भी जाते, तो सुमुख हर्षित होकर सुकृत प्राप्त करने के बदले उन पर क्रुद्ध होकर और पाप बांध लेता, परन्तु उसमें पुण्यानुबन्धी पुण्य है, जो पुण्य ही सम्पादन कराता है।

मुनि को देखकर सुमुख हर्षित हो अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और पाद-पीठिका (पाँव रखने का स्थान) पर होता हुआ, आसन से नीचे आया। आसन से नीचे उतर कर उसने खड़ाऊं या जूते उतारे, तथा दुपट्टे का उत्तरासंग करके नंगे पाँव मुनि के सामने चला।

शास्त्र के इस वर्णन से, अतिथि के प्रति सुमुख की अनन्य-भक्ति प्रकट है। साथ ही, उस समय की बैठने की

सभ्यता का भी इस में दिग्दर्शन कराया गया है। सुमुख, आसन पर बैठता था और पाँव, पाद्-पीठिका पर रहते थे, तथा पाँवों में जूते या खड़ाऊं रहते थे। यह उस समय की सभ्यता का बैठना था। आगन्तुक का सत्कार करने में वही समर्थ हो सकता है, जिसका कि बैठना उठना और चलना भी मर्यादानुसार हो। इस मर्याद का पालन न करने वाला· यानी अस्तव्यस्त बैठने वाला-किसी के आने पर स्वयं ही सकुचा जावेगा, तो वह उस आने वाले का प्रसन्नता-पूर्वक सत्कार कैसे कर सकता है? वास्तविक बात तो यह है, कि जिसका पुण्य बढ़ने वाला होता है, उसका-बैठना, उठना, चलना आदि-सब कार्य मर्यादित होते हैं, अमर्यादित नहीं होते।

सुमुख, सुदत्त मुनि के सामने सात आठ पाँव चल कर गया। समीप पहुंच कर उसने मुनि की प्रदक्षिणा की, और वन्दना नमस्कार किया।

मुख से जो स्तुति की जाती है, उसका नाम वन्दना है और हाथ जोड़कर पाँचों अंगों को झुका कर प्रणाम करने का नाम है, नमस्कार। कई लोग, केवल-खड़े खड़े--हाथ जोड़ लेने में ही, वन्दना नमस्कार की इतिश्री समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा करना पूरी तरह का वन्दना नमस्कार नहीं है। पूरा वन्दना--नमस्कार तो तभी है, कि जब मुख से स्तुति करता हुआ, पाँचों अंगों को झुका हाथ जोड़ कर नमस्कार करे।

सुमुख ने, सुदत्त मुनि को वन्दना नमस्कार किया। वह कहने लगा, कि आज का दिन धन्य है, जो घर बैठे आप जैसे मुनि के दर्शन हुए। आज मेरा घर पवित्र हो गया। दया करके मेरे घर से भी कुछ भिक्षा ले लीजिये।

इस प्रकार स्तुति करके, सुदत्त मुनि को लेकर, सुमुख पाकशाला (रसोई घर) को आया। यह विचार कर सुमुख हर्षित हो रहा था, कि आज मेरे घर में बहुत सा शुद्ध भात-पानी है, और मुझे अपने हाथ से मुनि को आहार-पानी आदि प्रतिलाभने का अवसर प्राप्त हुआ है।

दान के समय तीन करण-मन, वचन, और काय-से, दान देने के पूर्व, दान देने के समय, और दान देने के पश्चात् हर्षित रहनेवाला, तथा निकांक्ष दान देनेवाला दातार उत्तम-दातार है। इनमेंसे एककी भी कमी होने पर, दातार की शुद्धता में अन्तर आजाता है। उदाहरण के लिये-किसी के यहां मुनि आये। यदि मुनि के आने के समय उस दातार को हर्ष हुआ, उसने मुनि का स्वागत किया और यह विचार कर आनन्दित हुआ कि मैं मुनि को दान दूंगा; तब तो दातार उस समय तक उत्तम है, अन्यथा नहीं। पश्चात्, दान देने के समय भी यदि हर्ष रहा-विषाद न हुआ--तथा आकांक्षा रहित दान दिया, तो दान देने के समय तक दातार उत्तम है। और दान देने के पश्चात् भी वैसा ही हर्ष बना रहा--पश्चाताप या और कोई बुरा विचार न हुआ--तो वह दातार उस दान के लिये पूर्णतया उत्तम है।

भोजन शाला में मुनि को लाकर, सुमुख ने हर्ष और प्रेम सहित उन्हें चारों प्रकार का-अशन पान, खाद्य और स्वाद्य भोजन बहराया। सुमुख के हृदय में उस समय ऐसा आनन्द हो रहा था, कि जिसका पार नहीं। मुनि को भोजन बहरा कर, सुमुख उन्हें कुछ दूर साथ जाकर विदा कर आया। मुनि को विदा करने के पश्चात भी उसे उसी प्रकार का हर्ष रहा, जैसा हर्ष मुनि के आने के समय से दान देने के समय तक था।

सुमुख-मन, वचन, काय, से-आदि से अन्त तक हर्षित रहा। उसका यह दान वैसा ही था, जैसा कि एक उत्तम दातार का होता है। क्योंकि, उसने यह दान, आकांक्षा-रहित, स्वेच्छा-पूर्वक और आनन्दित हो कर दिया था। उसने इस दबाव से दान नहीं दिया था, कि हमारे गुरु हैं, या हमारे ही घर से निकले हुए सन्त हैं, या हमारे घर आये हुए हैं; इसलिये यदि हम न देंगे तो संसार में हमारी अपकीर्त्ति होगी। उसे यह भी भय नहीं था, कि मुनि को दान न दूँगा तो ये रुष्ट हो जावेंगे और मेरा अनिष्ट कर देंगे। यदि इन कारणों से सुमुख दान देता, तबतो वह उत्तम-दातार न कहलाता, परन्तु उसने इन कारणों से नहीं, किन्तु स्वेच्छा और प्रसन्नता-पूर्वक दिया था। इसलिये सुमुख उत्तम-दातार था और उसका दान भी उत्तम था।

उत्कृष्ट-दान वह कहलाता है, जिसमें दातार भी शुद्ध हो, द्रव्य भी शुद्ध हो, और पात्र भी शुद्ध हो। सुमुख के यहां ये

तीनों ही बातें थीं। दातार की शुद्धता तो ऊपर बताई ही जा चुकी है, कि सुमुख ने आकांक्षा-रहित, स्वेच्छा-पूर्वक, दान दिया था और प्रारम्भ से अन्त तक वह प्रसन्न ही बना रहा। इस प्रकार दातार तो शुद्ध ही था। पात्र भी शुद्ध था, यानी एक मास की तपस्या वाले पंचमहाव्रतधारी मुनि थे। रही द्रव्य शुद्धि की बात। इसकी व्याख्या नीचे की जाती है।

भोजनादि-द्रव्य की शुद्धि दो तरह से देखी जाती है। एक तो पात्र के कल्पानुसार हो और दूसरे न्याय के उद्योग से उपार्जन किया गया हो। पात्र के कल्पानुसार होने पर भी, यदि दान का द्रव्य न्यायोपार्जित नहीं है, तो वह दान का द्रव्य शुद्ध नहीं कहला सकता। क्योंकि, अन्यायोपार्जित भोजनादि द्रव्य, मुनि के पेट में जाकर उनको संयम पालने में सहायता देने के स्थान पर और संयम से भ्रष्ट बनाने में सहायक होगा। अन्योयापार्जित द्रव्य का उपभोग करने वाले की बुद्धि, अन्याय-मार्ग में ही प्रवृत्त होती है और न्यायोपार्जित द्रव्य का उपभोग करने वाले की बुद्धि न्याय-मार्ग में। न्यायोपार्जित द्रव्य में और अन्यायोपार्जित--द्रव्य में कितना अन्तर है, यह नीचे के दृष्टान्त से मालूम हो जावेगा।

एक राज-सन्यासी—जो पहिले राजा थे और अपना राज-पाट छोड़ कर सन्यासी हुए थे—एक दिन एक नगर में गये। उस नगर के राजा ने उन राज-सन्यासी को अपने यहां भोजन करने के लिये निमन्त्रित किया। राजा की ओर से बुलौआ

आने पर, राज-सन्यासी भोजन करने के लिये राजा के यहां गये। राजा ने राज-सन्यासी का उचित सत्कार किया और अच्छे अच्छे पकवान परस कर उन्हें भोजन करने के लिये बैठाया। राज-सन्यासी ने राजा से कहा—राजा, तूभी भोजन करने बैठ। राजा ने पहिले तो राज—सन्यासी से कहा कि आप भोजन कीजिये, मैं फिर भोजन कर लूंगा, परन्तु जब सन्यासी ने बहुत आग्रह किया, तब राजा ने रानी से भोजन लाने को कहा। पति की आज्ञा पाकर रानी, बाजरे की रोटी और बथुए का थोड़ा शाक एक थाली में रख कर ले आई। रानी की लाई हुई थाली सामने रख कर राजा ने राज-सन्यासी से कहा-हाँ महाराज, अब भोजन कीजिये। राजा की थाली देख कर राज-सन्यासी ने राजा से कहा-राजा, तू इतना कृपण है। अपने स्वयं के खाने पीने में भी तू उदारता से काम नहीं लेता? इतनी कृपणता करके यह धन--सम्पत्ति क्या तू अपने साथ ले जावेगा?

राज-सन्यासी की बात सुनकर राजा मुस्कराया। उसने राज-सन्यासी से कहा-महाराज, मैं कृपण नहीं, किन्तु उदार हूँ। मैं अपने आपकी उपार्जित सम्पत्ति में जितनी उदरता रख सकता हूँ, उतनी उदारता रखता हूँ। आप राज्य की सम्पत्ति के साथ मेरे इस भोजन की तुलना कर रहे हैं, यही आपकी भूल है। राज्य की सम्पत्ति मेरी नहीं, किन्तु प्रजा की है। उस पर मेरा व्यक्तिगत उतना ही अधिकार है, जितना

कि प्रजा में के किसी मनुष्य का हो सकता है। मैं राज्य की सम्पत्ति को अपने खाने पीने आदि में व्यय नहीं कर सकता। मैं अपने आप के लिये खेती करता हूँ। खेत में मैं स्वयं तो हल जोतता हूँ, और रानी उसमें नाज बोती है। आप मेरे सामने जो रोटियाँ देख रहे हैं, ये उसी खेत में उत्पन्न नाज की हैं और यह बथुआ भी उसी खेत का है। मैं और रानी, अपनी कृषि से उत्पन्न अनाज से ही अपना निर्वाह करते हैं। यदि मैं राज्य की सम्पत्ति को अपनी मान कर उसे अपने व्यक्तिगत व्ययमें लाने लगूँगा, तो फिर न्याय-पूर्वक राज्य नहीं कर सकता। बल्कि मेरा व्यय बढ़ जावेगा, जिससे मैं प्रजा के साथ अन्याय करने लगूँगा। मैं स्वयं परिश्रम करके खेती करता हूँ, इससे मुझे इस बात का भी ध्यान रहता है, कि अन्न पैदा करने में कितना परिश्रम करना होता है। इसके सिवा राज्य के कोश में प्रत्येक व्यक्ति का धन आता है। उसमें चोर, जुआरी, वेश्या, कसाई आदि सब का धन आता है। ऐसे धन को खाकर, मैं न्याय पर कैसे स्थिर रह सकता हूँ? महाराज, इन बातों को दृष्टि में रख कर ही मैं राज्य के धन को अपने काम में नहीं लेता और अपनी ही कमाई का अन्न खाता हूं।

राजा का उत्तर सुनकर, राज-सन्यासी बहुत लज्जित हुए। वे अपने आप को धिक्कार कर कहने लगे कि मैने राज-पाट छोड़ दिया है, फिर भी अभी अच्छे खाने-पीने की इच्छा

रखता हूं ? मुझ से तो यह राजा ही अच्छा है, जो अपनी कमाई का अन्न खाकर प्रजाकी सेवा कर रहा है और राज—कोष का स्वामी होता हुआ भी, उसमें से कुछ नहीं लेता है।

राज-सन्यासी, राजा से कहने लगे--राजा, तुझे धन्य है। तेरी इस निर्लोभ-बुद्धि के प्रभाव से ही, तेरी प्रजा सुख समृद्ध है। तेरी प्रजा जैसी सुखी है, वैसी सुखी किसी राज्य की प्रजा नहीं है और इसका कारण यही है, कि तू राज्य को अपने सुख के लिये नहीं समझ रहा है। तूने मुझे भी खूब शिक्षा दी। राज-पाट छोड़ने पर भी जो बात मुझसे नहीं छूटी थी, उसे तूने राज-पाट का स्वामी होते हुए भी छोड़ रक्खी है। मैं, तेरी बहुत प्रशंसा करता हूं और आज से रस-लौलुपता को त्यागता हूँ।

यह कह कर राज-सन्यासी ने अपने आगे के मिष्टान्न पदार्थ लौटा दिये और रानी से बाजरे की रोटी और बथुए का शाक माँग कर भोजन किया।

मतलब यह कि द्रव्य की शुद्धि, उस के उपार्जन के उपाय पर भी निर्भर है और वही द्रव्य शुद्ध है, जो न्यायोपार्जित तथा पात्र के कल्पानुसार हो। इन दोनों में से भी, कल्पानुसार होने की बात गौण है, और न्यायोपार्जित होने की बात प्रधान है। क्योंकि, कल्पानुसार न होने पर तो, पात्र उस दान के लेने से नाहीं भी कर सकता है, परन्तु

न्यायोपार्जित होने न होने का हाल तो पात्र को मालूम नहीं है। इसलिये दातार को यह ध्यान रखना चाहिये, कि यह दान का द्रव्य अन्यायोपार्जित तो नहीं है! इसी प्रकार पात्र को भी यह मालूम हो जावे कि दान अन्यायोपार्जित है, तो उसे भी लेने से नाहीं कर देना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र की टीका में भी यह बात कही गई है, कि यदि साधु को न्याय का अन्न मिले, तो उनके तप-संयम में वृद्धि होगी। इस कथन का उलटा यही होगा, कि यदि साधु को अन्याय का अन्न मिले, तो उनके तप-संयम में क्षति होगी। अतः द्रव्य की शुद्धि के लिये यह आवश्यक है, कि यह द्रव्य न्यायोपार्जित हो।

सुमुख के यहां का भोजन-पानी अन्यायोपार्जित नहीं, किन्तु न्यायोपार्जित था और साथ ही मुनि के कल्पानुसार भी था। इसलिये द्रव्य भी शुद्ध था।

इस सब प्रकार के शुद्ध दान के प्रताप से, सुमुख के यहां देवताओं ने आकाश से बारह क्रोड़ स्वर्ण-मुद्रा, वस्त्र तथा पाँच वर्ण के पुष्पों की वृष्टि करके, दुंदुभी बजाते हुए 'अहो दानं'! 'अहो दानं!!' की ध्वनि की।

आज के कई लोग, मुनि को दान देते समय- या देने के बाद-स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि होने की तो इच्छा करते हैं, परन्तु यह नहीं देखते, कि हम कौनसे दातार हैं! उत्तम-दातार के गुण जो पहिले बताये गये हैं, उन में दूसरी शुद्धता के साथ

ही साथ दातार का निकांक्ष होना भी आवश्यक है। लेकिन स्वर्ण-मुद्रा की वृष्टि चाहने वाले, निकांक्ष कहां रहे! इसके सिवा दातारों में और जिस शुद्धि का, तथा द्रव्य की शुद्धि का होना आवश्यक है, वे हैं या नहीं, यह भी देखना चाहिए। सुमुख का दान सभी तरह से उत्तम था और सुमुख निकांक्ष भी था। सोनैया वृष्टि की आकांक्षा उसे नहीं थी, न वृष्टि होने पर उसे कोई हर्ष ही हुआ। इसीसे उसके यहां सोनैया वृष्टि भी हुई और दुंदुभी के साथ अहो-दानं अहो--दानं की ध्वनि भी।

देव दुंदुभी और अहोदानं की ध्वनि सुनकर हास्तिनापुर निवासी-आश्चर्य चकित रह गये। पता लगानेपर लोगोंको सुमुख के इस दान का हाल मालूम हुआ। तिराहे चौराहे आदि स्थान स्थान पर नागरिक एकत्रित होकर सुमुख की सराहना करनेलगे, कि सुमुख धन्य है। अपने यहां वही पुण्यवान और सुकृती है, जो सुपात्रदान का लाभ उसे प्राप्त हुआ। उसी का मनुष्य--जन्म सार्थक है। इस प्रकार कह कह कर सब लोग सुमुख के दान का अनुमोदन करने लगे।

सुपात्रदान का अनुमोदन भी शुभ फल का दाता है। सुपात्रदान तो देनेवाला ही देता है और लेनेवाला ही लेता है--सबको यह योग नहीं मिलता--परन्तु उसका अनुमोदन करके तो सभी लोग सुपात्रदान के फल का कुछ अंश प्राप्त कर सकते हैं। हां, यह आवश्यक है कि उस सुपात्रदान का

अनुमोदन करनेवाले के हृदयमें यह ईर्ष्या न हो, कि मुनि उसके यहां तो आये परन्तु मेरे यहां क्यों नहीं आये ! ऐसी ईर्ष्या करनेवाला तो और अपने लिये पाप बांधता है।

भगवान महावीर, गौतमस्वामी से और सुधर्मास्वामी, जम्बूस्वामी से कह रहे हैं कि सुपात्रदान देने के पश्चात्, सुमुख कई दिनों तक जीवित रहा। अन्त में उस शरीर को छोड कर इस सुबाहुकुमार के भव में जन्म लिया।

१०

यह ऋद्धि ऐसे मिली।

भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किये थे, उन सब का उत्तर भगवान ने सुबाहुकुमार की पूर्व-कथा को कह कर दे दिया। उनका पहिला प्रश्न, सुबाहुकुमार के पूर्वभव के परिचय के विषय में था, जिसका उत्तर प्रारम्भ में ही भगवान ने उसका नाम गौत्र स्थान आदि बता कर दे दिया। यानी यह बता दिया, कि वह हस्तिनापुर में रहता था, उसका नाम सुमुख था और वह गृहपति था। अर्थात गृहपति उपनाम से वह पहिचाना जाता था। दूसरा प्रश्न दान के विषय में था, कि सुबाहुकुमार ने पूर्व-भव में कौनसा दान दिया था। इस प्रश्न का उत्तर भी कथा में आगया कि सुमुख गाथापति के भव में सुबाहुकुमार ने सब प्रकार की उत्तमता सहित धर्मदान दिया था। तीसरा प्रश्न गौतम स्वामी का खाने के विषय में था। इसका उत्तर भी भगवान, सुमुख की कथा में दे चुके और यह बतला चुके कि उसका खाना-पीना अन्यायोपार्जित और अभक्ष्य नहीं, किन्तु न्यायोपार्जित तथा भक्ष्य था और ऐसा था कि जिसमें से

मुनि के काम भी आसके। यदि उसका खाना अभक्ष्य और अन्यायोपार्जित होता, तो मुनि भी न लेते और उसका दान, उत्तमदान भी न कहलाता।

गौतम स्वामी का चौथा प्रश्न यह था, कि सुबाहुकुमार ने पूर्व-भव में कौनसा आचरण किया था? इस प्रश्न का उत्तर भी भगवान महावीर, कथा में दे चुके और यह बतला चुके कि सुमुख का आचरण ऐसा था कि उसका कोई पराभव नहीं कर सकता था। उसका बैठना भी मर्यादित था, खाना-पीना भी मर्यादित था। जिसका बैठना भी मर्यादित था उसके और काम भी अवश्य ही मर्यादित होने चाहिएँ। इसके सिवा वह अतिथि-सत्कार जानता तथा करता था। मतलब यह कि मर्यादा को भंग न करना ही शुद्धाचरण है और सुमुख के सब कार्य मर्यादित थे।

गौतम स्वामी का पांचवां प्रश्न यह था, कि सुबाहुकुमार ने पूर्व-भव में किन महात्मा के पास आचार-सम्बन्धी एक भी वचन सुन कर हृदय में धारण किया था? सुमुख की कथा में इस प्रश्न का भी उत्तर आचुका। क्योंकि सुमुख को विधि-विधान का ज्ञान था जो बिना महात्माओं के वचन सुने नहीं हो सकता।

यदि वह विधि न जानता होता, उसके रसोईघर में सचित्त वस्तु पड़ी होती, या भोजन-पानी का अग्नि आदि ऐसी वस्तु

से सम्पर्क होता-जिसके कारण से मुनि को लेना न ीं कल-पता है-तो उसे सुपात्रदान का योग कैसे प्राप्त होता ? इससे सिद्ध है, कि सुमुख समय समय पर महात्माओं के वचनों को श्रवण किया करता और उन्हें हृदय में धारण करके-गृहस्थी में जितना सम्भव है उतना-पालन भी किया करता था।

गौतम स्वामी के प्रश्न और भगवान महावीर के उत्तर से यह निर्णय हुआ, कि सुबाहुकुमार की सी ऋद्धि प्राप्त करने के लिये सुपात्रदान की आवश्यकता है। सुपात्रदान का योग प्राप्त करने के लिये, स्वयं को भी वैसा भोजन करना पड़ता है, जो भक्ष्य और न्यायोपार्जित हो। भक्ष्य अभक्ष्य और न्याय अन्याय को जानने के लिये महात्माओं के वचन श्रवण करना तथा हृदय में रखना आवश्यक है। और महात्माओं के वचन श्रवण करके हृदय में तभी धारण किये जा सकते हैं, जब आचरण शुद्ध और जीवन मर्यादित हो। इस प्रकार सब से पहले आचरण को शुद्ध करके जीवन को मर्यादित बनाने की आवश्यकता है। जिसका आचरण शुद्ध और मर्यादित है, उसे कभी न कभी सुपात्र को सब प्रकार से उत्तम दान देने का योग प्राप्त होगा और वही सुबाहुकुमार की सी ऋद्धि प्राप्त कर सकेगा।

गौतम स्वामी, चार ज्ञान के जानने वाले थे, फिर भी उन्होंने सुबाहु के पूर्व भव का वृत्तान्त भगवान महावीर से इसलिये पूछा कि एक तो भगवान केवल-ज्ञानी थे। चार-ज्ञानी

की अपेक्षा केवलज्ञानी के वचन बहुत महत्व-पूर्ण हैं। दूसरा कारण यह है, कि भगवान महावीर गौतम स्वामीके गुरु थे। शिष्य का यह कर्त्तव्य है कि अपने मन में जो बात जानने की अभिलापा हो, उसे आपही न समझ बैठे, किन्तु गुरु से उस बात को सुने। फिर चाहे शिष्य कितना ही ज्ञानी क्यों न हो। तीसरी बात यह है, कि यदि गौतम स्वामी अपने ही मन में समझ बैठते, तो दूसरे लोग इस कथा को जानने से वंचित रह जाते। इसलिये गौतम स्वामी ने अपने मन के सन्देह को भगवान से प्रकट करके उन्हीं के मुख से यह कथा सुनी, जिसमें उन्हें स्वयं को भी आनन्द आया, उस समय में उपस्थित लोगो ने भी इसे सुनली, और भविष्य के लिये भी एक साहित्य हो गया।

इस भूत-काल की कथा को सुनकर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से सुवाहु कुमार का भविष्य पूछना उचित समझा। जिसमें सुनने वालों को भूतकाल की बात के विषय में कोई सन्देह हो तो भविष्य की बात सुनकर तथा देखकर वे अपना सन्देह मिटालें और भविष्य की बात सत्य होने पर भूतकाल की बात को भी सत्य मानें। साथ ही, उनको यह भी जानना तथा दूसरों को मालूम करना था, कि उत्तम दान का फल इस ऋद्धि तक ही सीमित रहता है, या संयम-ऋद्धि भी प्राप्त होतीहै ! इन बातों को दृष्टि में रखकर, गोतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा-प्रभो ! सुवाहुकुमार-जिसने

कुछ समय पूर्व यह कहा था कि मैं दीक्षा लेने में समर्थ नहीं हूं-क्या भविष्य में दीक्षा लेने को समर्थ होगा ? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान बोले--हां, समर्थ होगा ।

जम्बू स्वामी से सुधर्मा स्वामी कह रहे हैं, कि भगवान के मुखारविन्द से सुबाहुकुमार का भूत और भविष्य सुनकर गौतम स्वामी बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने पुनः पुनः भगवान को वन्दना नमस्कार किया और धर्म-ध्यान में लग गये ।

सन्तों सहित भगवान महावीर वहां कुछ दिन विराज कर एक दिन विहार करगेय और अन्य ग्राम -नगरमें विचरने लगे।

११

सुबाहुकुमार श्रावक।
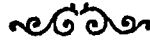
अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शास्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्त्तव्यो धर्म संग्रहः॥

अर्थात्--शरीर अनित्य है, वैभव भी सदा बने रहने वाले नहीं हैं, और मृत्यु भी सदैव पास है, यह समझ कर धर्म करना कर्त्तव्य है।

सुधर्मा स्वामी कह रहे हैं--हे जम्बू, भगवान से धर्मोपदेश सुन कर तथा बारह व्रत धारण कर, सुबाहुकुमार अपने घर आया। अब देखना यह है कि सुबाहुकुमार के धर्म सुनने और व्रत धारण करने के पूर्व के जीवन में धर्म सुनने और व्रत धारण करने के पश्चात् क्या परिवर्त्तन हुआ। धर्म सुनने के पश्चात यदि जीवन में कुछ परिवर्त्तन हुआ-जीवन सुधरा--तब तो धर्म सुनना सार्थक है और नहीं तो धर्म सुनना भी वैसा ही हो जाता है, जैसे गधे पर चन्दन लादन। इसलिये सुबाहुकुमार के जीवन में क्या परिवर्त्तन हुआ, यह देखना है। क्योंकि अब सुबाहुकुमार का दूसरा जन्म हुआ है।

अर्थात् धर्म प्राप्त करके वह द्विजन्मा-श्रावक-बना है। पक्षी भी द्विजन्मा कहलाता है। उसका पहिला जन्म वह है, जब वह अण्डे के रूप में होता है और दूसरा जन्म वह है, जब उसके पर जम आते हैं। पक्षी को दूसरा जन्म धारण करने से यह लाभ होता है, कि जब वह अण्डे के रूप में था, तब उसे जो चाहता वही गुड़का देता, परन्तु अब उसका यह भय जाता रहा। अब वह अपने परों के सहारे रहता हुआ आकाश में विचरता है। इसलिये किसी के गुड़काने से नहीं गुड़क सकता। इसी प्रकार श्रावक बनने और दूसरा जन्म होने पर मनुष्य को क्या लाभ होता है यह सुबाहुकुमार के चरित्र से देखना है। क्योंकि धर्म-प्राप्ति के पूर्व मनुष्य भी अण्डे की तरह इस भव संसार में गुड़कता फिरता है और दुःख भोगता रहता है।

सुबाहुकुमार को धर्म श्रवण करने से यह लाभ हुआ, कि वह जीव और अजीव को पहिचानने लगा।

जीव अजीव जानने वाले को पाप-पुण्य हाथ की रेखाओं की तरह दीख पड़ने लगते हैं। वह इस बात को जानने लगता है, कि इन्हीं जीव अजीव से हम पुण्य भी बांध सकते हैं, और पाप भी। धर्म पर श्रद्धा होने का पहिला लक्षण जीव अजीव का जानना ही है।

जीव अजीव को जानने से, सुबाहुकुमार पाप पुण्य को भी जानने लगा। वह जानने लगा कि पुण्य का फल स्वर्ग है

और पाप का फल नहीं है। सुख दुःख के दाता वास्तव में पुण्य पाप ही हैं। सुख का दाता पुण्य है और दुःख का दाता पाप है, इस बातको वह भली प्रकार समझने लगा।

सुबाहुकुमार, जीव, अजीव पाप, पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, क्रियाधिकरण, बंध और मोक्ष को जानने लगा। वह इनकी उत्पत्ति और इनसे होने वाले हानि-लाभ से भली प्रकार अवगत हो गया। वह इन सब के जानने में कुशल हो गया।

धर्म के इन प्रधान तत्त्वोंको जान कर सुबाहुकुमार, अपना जीवन विधि से इस प्रकार व्यतीत करने लगा कि आश्रव की जगह संवर उपजे और महारंभ की जगह अल्पारंभ से ही काम चले। वह इस बात का सदा ध्यान रखता, कि जिसके द्वारा संवर, निर्जरा, धर्म, या पुण्य हो सकता है, उसी के द्वारा आश्रव या पाप क्यों पैदा करूं! वह इस बात की सदा चेष्टा करता रहता था, कि अल्प-क्रिया सेहोने वाले कामोंमें महा-क्रिया न हो, बल्कि महा-क्रिया से होनेवाले काम अल्प-क्रिया में ही हों। उसका जीवन ऐसा शुद्ध हो गया, कि वह यदि किसी के अन्तःपुर में जाता, तो उस पर कोई सन्देह नहीं करता था। वह समय-समय पर महात्माओं के समीप जाया करता था। उसे निग्रन्थ-प्रवचन पर पूर्ण विश्वास था, किसी भी प्रकार की शंका नहीं थी; न अन्य दर्शनों की उसे आकांक्षा ही थी। उसकी हड्डी मज्जा, निग्रन्थ-प्रवचन के प्रेम से अनुरक्त थीं।

वह अपने आप से तथा दूसरों से यही कहा करता, कि निग्रन्थ-प्रवचन ही अर्थ है, यही परमार्थ है और शेष आरंभादि कृत्य अनर्थ है। निग्रन्थ-प्रवचन के प्रति सुबाहुकुमार की श्रद्धा ऐसी दृढ़ थी, कि उसे सम्यक्त्व से कोई विचलित नहीं कर सकता था।

सुबाहुकुमार को दानादि के फल विषयक कोई शंका नहीं थी। दान के लिये उसके घर का दरवाजा सदा खुला रहता था। निग्रन्थ मुनियों को भी वह निर्दोष भोजन, पानी, वस्त्र पात्र, उपधि, औषध आदि दान किया करता था। अधिकांश में वह उन्हीं वस्तुओं को काम में लेता, जो मुनि के भी काम आसकें। उसके यहां से कोई भी भिक्षुक विमुख नहीं जाता था।

धारण किये हुए बारह-व्रतों का सुबाहुकुमार विवेक-पूर्वक पालन करता और इस बात का सदा ध्यान रखता कि व्रतों में अतिचार न हो। वह समय-समय पर पोषध उपवास किया करता था। चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन तो वह पूर्ण-पोषध करता और उस दिन निरन्तर आत्म-चिन्तन में ही लगा रहता था। उसने धर्मध्यान के लिये पृथक् स्थान रख छोड़ा था, जिसका नाम पोषधशाला था।

आरंभ परिग्रह के भार से आक्रान्त गृहस्थ-श्रावक के लिये, भगवान ने विश्राम के सामायक, दिशावगासिक, पोषध और शलेषणा संथारा-ये चार स्थल बताये हैं। जब तक गृहस्थी नहीं छूटी है, तब तक श्रावक इनके आराधन

में ही निरारंभी निष्परिग्रही होकर कुछ विश्राम पाता है और उसे आत्म-चिन्तन का समय मिलता है। इसलिये श्रावक को इन विश्रामस्थलों के लाभ से वंचित न रहना चाहिए।

पूर्ण--पोषध व्रत से शारीरिक लाभ भी है और मानसिक लाभ भी। जो लोग एक मास में छः पोषध व्रत करते हैं, उनका शरीर स्वस्थ रहता है, विचार उत्तम रहते हैं और काम-क्रोधादि विकार भी घटते हैं। मास में छः पोषध व्रत करने वाले को, मृत्युलोक भी स्वर्ग सा सुख देने वाला हो जाता है। ऐसे मनुष्य का आत्मा, निरन्तर उर्ध्वगामी रहता है, पतन की ओर नहीं झुकता।

आत्म--चिन्तन का कार्य एकान्त में जितना अच्छा होता है, उतना सांसारिक मनुष्यों से भरे हुए घर में नहीं होता। क्योंकि जहां पर संसार-व्यवहार की ही बातें कान में पड़ रही हों, वहां चित्त एकाग्र नहीं रहता और बिना एकाग्र चित्त के आत्म-चिन्तन नहीं हो सकता। इसीलिये श्रावकलोग आत्म-चिन्तन का कार्य एक ऐसे पृथक स्थान पर किया करते हैं, जिसे पोषधशाला कहते हैं और जहां धर्मध्यान की ही बातें होती हैं, सांसारिक बातें नहीं होतीं। धर्मध्यान के लिये पृथक स्थान होने से सन्त महात्माओं को भी ठहरने में सुविधा होती है और उन्हें ठहरने के लिये ऐसा स्थान मिलता है, जहां उनके तप-संयम में बाधा पहुँचाने वाला कोई कारण नहीं होता।

चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन, सुबाहुकुमार पोषध व्रत धारण करके पोषधशाला में जाता। वहां पहिले वह पोषधशाला को पूँजता। यानी उसे बुहार कर साफ करता। फिर शौच और लघुशंका के लिये ऐसे स्थान देख लेता, जहां जीव-जन्तु न हों। इसके पश्चात् वह अपने हाथ से कुश का आसन बिछाता और उस पर बैठ कर धर्मध्यान करता।

सुबाहुकुमार, राजकुमार था। राजकुमार होने के कारण, उसकी सेवा के लिये कितने सेवक होंगे, यह बात प्रत्येक आदमी अनुमान से ही समझ सकता है। फिर भी पोषधशाला को सुबाहुकुमार हाथ ही से पूँजता, नौकरों से पूँजने का काम न कराता। ऐसा करने से कई लाभ हैं। पहिला लाभ तो है, साधुपने का अभ्यास। संसार में तो यह काम दूसरे से करा भी सकता है, परन्तु साधुपने में तो हाथ ही से करना पड़ता है, इसलिये अभी से अभ्यास हो जावे। दूसरा लाभ यह है कि स्वयं के काम करने में जीवरक्षा-विषयक जितनी सावधानी रखी जा सकती है, नौकरों द्वारा काम कराने पर उतनी सावधानी नहीं रखी जा सकती। तीसरा लाभ नौकरों के सामने आदर्श रखना है। नौकर जब देखेंगे कि हमारा स्वामी स्वयं हाथ से काम करता है, तो वे भी आलस्य-रहित हो उत्तम काम करेंगे।

सुबाहुकुमार के यहां कीमती और नरम बिस्तरों की कमी न थी, फिर भी वह पोषधशाला में कुश का आसन बिछाता और उसी पर बैठता सोता। कुश, एक प्रकार की घास है। कुश के अभाव में धान कोदो आदि का पयाल तथा भूसा भी बिछौने के काम में लिया जाता है। कुछ भी हो, लेकिन हैं ये सब घास की ही श्रेणी के। जैन-शास्त्रों में ही नहीं, किन्तु हिन्दू-मात्र घास के बिछौने को उत्तम मानते हैं। योगी लोग भी अपना आसन घास का ही रखते हैं, क्योंकि घास का आसन योग में उन्नति करता है।

पोषधशाला में सुबाहुकुमार घास के ही आशन पर बैठता सोता। ऐसा करने में पहिला लाभ तो साधुपने का अभ्यास होता। दूसरी बात यह है, कि सामायिक पोषध आदि में श्रावक एक निश्चित समय के लिये मुनि-वृत्ति धारण करता है। मुनि वृत्ति धारण करने में सबसे पहले अभिमान का नाश करना होता है और फिर सादगी अपनानी होती है। इसके बिना साधुपना निभ ही नहीं सकता। अपने हाथ से पोषधशाला को पूँजना तथा घास का आसन रखना, अभिमान भी मिटाता है और सादगी का भी परिचायक है। इसीलिये सुबाहुकुमार पोषधशाला को पूँजता भी अपने हाथ से और आसन भी घास का ही रखता।

सामायिक पोषध आदि में, आरम्भ परिग्रह के त्यागने और मुनि धर्म को अपनाने की शिक्षा है। श्रावक का ध्येय

यही रहता है, कि मैं आरम्भ परिग्रह को त्याग कर मुनि बनूं। इस ध्येय की पूर्त्ति के लिये और ध्येय प्राप्त हो जाने पर किसी प्रकार का कष्ट न जान पड़े इसलिये, श्रावक कमसे-कम नित्य चार घड़ी और मास में पूरे छः दिन-यानी गार्हस्थ्य-जीवन के समय का चौथा भाग-इस अभ्यास में लगाता है। इस प्रकार वह मुनि-धर्म का सहज ही में अनुभव भी कर लेता है, अभ्यास भी कर लेता है और अपने लिये सुगति का आयु भी बांध लेता है। यदि वह संयम न ले सका तब भी उसकी आयु का चौथा भाग तो मुनि-धर्म के पालन में लग ही जाता है, तथा वह मुनि-धर्म पालन का कुछ लाभ भी इस प्रकार प्राप्त करही लेता है।

१२

वैराग्योत्पत्ति

भोगे रोग भयं कुले च्युति भयं वित्ते नृपालाद्भयं ।
मौने दैन्य भयं बले रिपु भयं रूपे जराया भयं ॥
शास्त्रे वाद भयं गुणे खल भयं काये कृतांताद्भयं ।
सर्वं वस्तु भयान्वितंभुविनृणां वैराग्यमेवा भयम् ॥

भ० वै० श०

अर्थात्‌-विषय-भोग में रोग का भय है; कुल में दोष लगने का भय है; धन में राजा का भय है; चुप रहने में दीनता का भय है; बल में शत्रुओं का भय है; सुन्दरता में बुढ़ापे का भय है; शास्त्र में वाद-विवाद का भय है; गुणों में दुष्टों का भय है; और शरीर में मौत का भय है। इस प्रकार संसार की सभी बातों में भय है, केवल वैराग्य में किसी प्रकार का भय नहीं है।
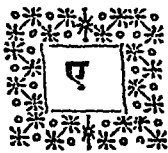
एक दिन सुबाहुकुमार, तेला का तप धारण करके रात्रि के समय पोषधशाला में आत्म-चिन्तन कर रहा था। उसने संसार के प्रत्येक पदार्थ की स्थिरता

अस्थिरता पर विचार किया। अन्त में वह इसी निश्चय पर पहुँचा, कि संसार के सब पदार्थ निस्सार हैं। इनमें से अन्त समय साथ देने वाला एक भी नहीं है। यह सुन्दर शरीर भी साथ देने वाला नहीं है, तो और कोई क्या साथ देगा! साथ देने वाला तो केवल धर्म ही है। आत्मा, अनन्तकाल से इस संसार में भटक रहा है—इन सांसारिक पदार्थों पर मोहित हो रहा है-परन्तु इन सांसारिक पदार्थों से आत्मा का जरा भी उपकार नहीं हुआ; हाँ, हानि अवश्य हुई। इन पदार्थों में उलझे रहने और पाप करते रहने के कारण, यह आत्मा बार-बार ऐसे शरीर में जन्मता-मरता रहा, कि जो अपूर्णांग थे और जिनसे धर्म का पूरी तरह पालन नहीं हो सकता था।

मनुष्य-शरीर पूर्णांगी है। ऐसा पूर्णांगी और कोई शरीर नहीं है। दूसरे शरीर में यदि बोलने की शक्ति है, तो देखने की नहीं है; देखने की है, तो सुनने की नहीं है; सुनने की है, तो सूँघने की नहीं है और सूँघने की शक्ति भी है, तो अच्छे-बुरे की पहिचान नहीं है। हाथ हैं तो पैर नहीं, पैर हैं तो कान नहीं; कान हैं तो नाक नहीं; और ये सब कुछ हैं, तो मनुष्य की सी बुद्धि नहीं है। मतलब यह, कि मनुष्य शरीर सी विशेषताएँ दूसरे किसी शरीर में नहीं हैं। इसीलिये मनुष्य-शरीर पूर्णांगी कहलाता है।

सुबाहुकुमार विचारता है, कि इस भव में यह पूर्णांगी मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीर के प्राप्त होने पर भी

यदि मैं जन्म--मरण के दुःख से छूटने का उपाय न करूँगा, तो फिर कब करूंगा! इसका होना तभी सार्थक है, जब इसके द्वारा ऐसा धर्म लाभ करूँ, कि इस आत्मा को फिर संसार में जन्मना--मरना न पड़े। लेकिन यह तभी संभव है, जब आरम्भपरिग्रह को पूरी तरह त्यागकर मुनि-वृत्ति धारण करूँ; यानी मुनि हो जाऊँ।

आज, मैं जिन सांसारिक सुखों को अपना जानकर उनमें लिपट रहा हूँ, वास्तव में वे मेरे मित्र नहीं, किन्तु शत्रु हैं। वे मुझको लाभ पहुँचाने वाले नहीं, किन्तु हानि पहुँचाने वाले हैं। अनन्तकाल से मैं इनको अपना समझकर धोखा खा रहा हूँ। अब इस बात को समझकर भी इन्हीं में लिपटे रहना, बुद्धिमानी नहीं है। ये सांसारिक पदार्थ—जिन्हें मैं अपना समझ रहा हूँ--एक दिन निश्चय ही छूट जावेंगे। मैं चाहे इनको चाहता ही रहूँ, परन्तु ये तो मुझे छोड़ ही देंगे। जिस समय ये मुझे छोड़ेंगे, तब मुझे दुःख होगा; इसलिये मैं ही इनको क्यों न त्याग दूँ! अनिच्छा-पूर्वक छूटने का दुःख क्यों सहूँ! इच्छा--पूर्वक ही क्यों न छोड दूँ। जब मैं स्वयं ही इनको छोड़ दूँगा, तो मुझे दुःख भी न होगा और मेरा कल्याण भी होगा। इसलिये यही उत्तम है, कि मैं इन सब को त्याग कर दीक्षा ले लूँ। कहा है:—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्॥

अजन्तः स्वातन्त्र्यादतुल परितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्त्वाह्येते शम सुख मनन्तं विदधति॥

भर्तृ० वै० श०

अर्थात्—बहुत काल से ग्रहण किये हुए विषयों को त्यागने में मनुष्य स्वयं चाहे समर्थ न हो, लेकिन ये विषय छूट कर अवश्य ही जावेंगे। परन्तु इन दोनों प्रकार के वियोग में क्या अन्तर है? यही कि यदि विषयों ने अपनी स्वतन्त्रता से छोड़ा तो जिसे विषयोंने छोड़ा है उसे-महान् दुःख होगा और यदि विषयों को स्वयं ही त्याग दिया, तो-विषयों को त्यागने वाला-अनन्त शान्ति तथा सुख का अनुभव करेगा।

इस प्रकार विचारते-विचारते सुबाहुकुमार को भगवान महावीर के कल्याणमय स्वरूप का ध्यान हुआ। वह विचारने लगा, कि वे स्थान धन्य हैं, जहाँ भगवान महावीर भ्रमण कर रहे हैं। वे लोग भी धन्य हैं, जो घर संसार छोड़कर--आत्म-कल्याण के लिये--भगवान महावीर के पास मुण्डित हुए हैं। वे लोग भी धन्य हैं, जो भगवान महावीर से धर्मोपदेश सुन-कर श्रावक-व्रत धारण करते होंगे। और वे लोग भी धन्य हैं, जो कम से कम भगवान महावीर की अमृतवाणी का उपदेश श्रवण करते होंगे। क्या मालूम, अब मेरे को भगवान के दर्शन कब हों! अब यदि भगवान इस नगर में पधारें, तो मैं भी उनके समीप मुण्डित होकर दीक्षा धारण करूँगा।

भक्त को जब अपने इष्ट का स्मरण होता है, तब वह-इष्ट की सेवा से वंचित रहने के कारण अपने आपको दुर्भागी मानता है और उन सब को सद्भागी मानता है, जिन्हें उनकी सेवा का सुयोग प्राप्त है। इतना ही नहीं, बल्कि उस क्षेत्र को भी धन्य मानता है, जिसमें इष्ट होता है। इसके अनुसार सुबाहुकुमार ने भी उन स्थानों को-जहाँ भगवान महावीर विचरण करते होंगे-धन्य कहा है और उन लोगों को भी धन्य कहा है, जिन्हें भगवान की सेवा का सुयोग प्राप्त है।

इष्ट से सम्बन्ध रखने वाले-क्षेत्र, मनुष्य आदि-की प्रशंसा करनी, इष्ट की प्रशंसा है। क्योंकि प्रशंसक इन सब की प्रशंसा इष्ट के कारण से ही कर रहा है। यदि इष्ट से उनका सम्बन्ध न होता, तो प्रशंसा का कोई कारण न था। इसलिये सुबाहुकुमार ने इन सब को धन्य कह कर भगवान महावीर की प्रशंसा की है। महापुरुषों की प्रशंसा करने के लिये, उनसे सम्बन्ध रखने वाले द्रव्य, क्षेत्र, और काल की भी प्रशंसा की जाती है। जैसे आज भी कहा जाता है, कि वह समय धन्य है, जब भगवान महावीर हुए थे; वह स्थान धन्य है, जहाँ भगवान महावीर का जन्म हुआ था, या भगवान महावीर के चरण पड़े थे; वे लोग भी धन्य हैं, जिन्हें भगवान महावीर की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ था। आज जो कुछ कहा जाता है, वह भूतकाल के लिये है और सुबाहुकुमार जो कुछ कह

रहा है, वह वर्त्तमान के लिये है। मतलब यह, कि सब को धन्य कहने से सुबाहुकुमार का अभिप्राय भगवान महावीर की प्रशंसा करना और उन्हें धन्य कहना है। क्षेत्री के कारण से ही क्षेत्र को धन्य कहा जाता है, अन्यथा नहीं। इसलिये वह प्रशंसा क्षेत्र की नहीं, किन्तु क्षेत्री की है।

सुबाहुकुमार ने, भगवान महावीर के हस्तिशिखर नगर में पधारने पर दीक्षा लेने का विचार किया, इस पर से प्रश्न होता है, कि सुबाहुकुमार, भगवान महावीर के पास ही क्यों न चला गया? या एक प्रार्थना-पत्र ही क्यों न भेज दिया, कि आप पधारिये, मैं दीक्षा लूँगा?

इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है, कि एक तो सुबाहुकुमार यह देखना चाहता है, कि मैं दीक्षा के योग्य हूँ या नहीं! क्योंकि भगवान सर्वज्ञ हैं। अतः यदि वे मेरी इच्छा पर पधार गये, तो मैं समझ लूँगा, कि मैं दीक्षा के योग्य हूँ। यदि मैं दीक्षा के योग्य न होऊँगा, तो भगवान न पधारेंगे। दूसरे, सुबाहुकुमार यदि हस्तिशिखर नगर में दीक्षा लेगा, तो उसके दीक्षित होने से दीक्षा का महत्व बढ़ेगा। हस्तिशिखर नगर में, सुबाहुकुमार को सब जानते हैं और सब को यह भी मालूम है, कि सुबाहुकुमार राजकुमार है। राज्य त्यागकर दीक्षा लेने का प्रभाव, लोगों पर भी बिना पड़े नहीं रह सकता। दीक्षा तो वह भगवान महावीर के पास जाकर भी ले सकता था, परन्तु वहाँ जाकर दीक्षा लेने से

दीक्षा का उतना महत्व न बढ़ता-जितना महत्व हस्तिशिखर नगर में दीक्षा लेने से बढ़ा। क्योंकि दूसरी जगह उसको जानने वाले नहीं हैं। दूसरी जगह इसका परिचय देने की आवश्यकता होती, परन्तु हस्तिशिखर नगर में-इसे सब जानते हैं इससे-इसका परिचय देने की आवश्यकता नहीं है।

रही बात प्रार्थनापत्र भेजने की। लेकिन सुबाहुकुमार को यह मालूम है, कि भगवान सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञ से आत्मा द्वारा ही प्रार्थना करना उचित है, कागज या सन्देश द्वारा प्रार्थना भेजना उनकी सर्वज्ञता का अपमान करना है। कागज या सन्देश द्वारा प्रार्थना भेजने की आवश्यकता छद्मस्थ के ही पास है; सर्वज्ञ के पास इस प्रकार से प्रार्थना भेजने की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं कारणों से, सुबाहुकुमार आप भी भगवान के पास नहीं गया, न प्रार्थनापत्र ही भेजा।

सुबाहुकुमार ने, दूर और समीप की वस्तुओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध विचारकर, अन्त में यही निश्चय किया, कि आत्मा का वास्तविक सहायक कोई पदार्थ नहीं है, केवल धर्म ही वास्तविक सहायक है। इसलिये इन सब को छोड़कर, मैं धर्म ही को पूरी तरह अपनाऊँगा और अपना तन मन उसकी सेवा में लगा दूँगा। अर्थात्—भगवान के यहाँ पधारने पर दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा।

दीक्षा लेने का अर्थ है, अपने शरीर को परोपकार के लिये समर्पण कर देना।

परोपकाराय सतां विभूतयः।

अर्थात्- -सज्जनों की सम्पति परोपकार के लिये ही होती है।

यहाँ प्रश्न होता है, कि दीक्षा लेकर मुनि बनने वाले लोग क्या परोपकार करते हैं? वे न तो किसी को धन देते हैं, न भोजन देते हैं और न कोई दूसरी ही सहायता करते हैं। ऐसी दशा में, दीक्षा लेने वाले अपने तन-मन को परोपकार के लिये समर्पण कर देते हैं, यह कैसे कहा जा सकता है?

परोपकार दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक अस्थायी और दूसरा स्थायी। अर्थात् एक तो थोड़ी देर के लिये किसी की कोई सहायता करनी और एक सदा के लिये सहायता करनी। धन भोजन आदि देकर जो परोपकार किया जाता है, वह स्थायी नहीं, किन्तु थोड़ी देर के लिये—अधिक से अधिक उसके जीवन भर के लिये—होता है। महात्मा लोग, ऐसा अस्थायी उपकार नहीं करते किन्तु वह उपकार करते हैं, जिससे इस लोक में भी लाभ होता है और परलोक में भी। महात्माओं द्वारा किया गया उपकार किसी को वस्तु देने के उपकार के समान

नहीं होता, किन्तु वस्तु-निर्माण की विधि बता देने के समान होता है। वस्तु देकर किये गये उपकार का लाभ तभी तक है, जब तक कि उस वस्तु का नाश नहीं होता है, लेकिन वस्तु-निर्माण की विधि बताकर किया गया उपकार जीवन भर के लिये लाभदाता है। यद्यपि विधि बताने में पदार्थ तो कोई नहीं दिया गया, फिर भी पदार्थ देने के उपकार से, पदार्थ-निर्माण की विधि बताने का उपकार कहीं बहुत ज्यादा है। पदार्थ देने और पदार्थ-निर्माण की विधि बतानेके उपकार में कितना अन्तर है, यह बताने के लिये एक दृष्टांत दिया जाता है।

एक मनुष्य ने, एक सिद्ध की सेवा करके उसे प्रसन्न किया। सिद्ध ने प्रसन्न होकर उस मनुष्य से कहा, कि मेरे पास कुंभकलश भी है और कुंभकलश बनाने की विधि भी मैं जानता हूँ। कुंभकलश में यह गुण है, कि किसी भी वस्तु की इच्छा करने पर वह वस्तु उस कुंभकलश से उसी समय प्राप्त हो जावेगी और कुंभकलश बनाने की विधि जानने पर जब चाहो तभी कुंभकलश बन सकता है। यदि तुम चाहो, तो मेरे से कुंभकलश ले सकते हो और यदि चाहो, तो कुंभकलश निर्माण की विधि सीख सकते हो।

सिद्ध की बात सुनकर सिद्ध के सेवक ने विचार किया, कि प्रत्यक्ष लाभ को छोड़कर अप्रत्यक्ष लाभ के पीछे दौड़ना मूर्खता है। कुंभकलश से तो मैं अभी ही लाभ उठा सकता हूँ

परन्तु कुंभकलश बनाने की विधि सीखने पर अभी लाभ नहीं उठा सकता। इसके सिवा क्या ठीक है, कि उस विधि से कुंभकलश बन ही जावेंगे। इसलिये यही उत्तम है, कि मैं सिद्ध के पास वाला कुंभकलश ले लूँ।

इस प्रकार विचारकर, उसने सिद्ध से कुम्भकलश ले लिया और प्रसन्न मन घर को आया। घर आकर उसने अपने सब कुटुम्बियों से कह दिया, कि अब अपने को न तो कोई काम करने की ही आवश्यकता है, न चिन्ता करने की ही। इस कुम्भकलश से जो वस्तु चाहेंगे, यह वही वस्तु देगा। इसलिये अब कोई काम मत करो और जो कुछ चाहिए, वह इस कुम्भकलश से माँगकर आनन्द उड़ाओ।

कुटुम्ब के सभी लोग, कुम्भकलश के आश्रित होगये। उन्होंने, खेती-वाड़ी, पीसना-कूटना वाणिज्य-व्यापार आदि सब कुछ छोड़ दिया! सभी लोग अकर्मण्य बनकर उस कुम्भकलश से माँग-माँग खाने लगे और इस प्रकार के जीवन को आनन्द का जीवन मानने लगे। कुम्भकलश से वे जो कुछ चाहते, कुम्भकलश उन्हें वही वस्तु देता।

एक दिन सब ने उस कुंभकलश से अच्छी से अच्छी मदिरा माँगी। कुम्भकलश से मिली हुई मदिरा को सब लोगों ने खूब पिया और उसके नशे में मस्त बन गये। फिर उस कुंभकलश को एक आदमी के सिर पर रखकर सब लोग नाचने लगे। शराब में मस्त होने के कारण उस समय उन लोगों को

त्रैलोक्य की भी पर्वाह नहीं थी, तो कुम्भकलश की पर्वाह वे क्यों करने लगे थे! कुम्भकलश को सिर पर रखकर उपेक्षा-पूर्वक नाचने और आपस में धौल-धप्पे करने से, कुम्भकलश सिर पर से गिरकर फूट गया। कुम्भकलश के फूटते ही उन लोगों का नशा भी उतर गया। जिस कुम्भकलश की कृपा से अब तक कार्य चल रहा था, वह तो नष्ट होगया और जिन उपायों से कुम्भकलश मिलने के पहले जीवन-निर्वाह होता था, उन्हें वे लोग भूल गये थे तथा उनके साधन भी नष्ट होगये थे, इसलिये वे सब लोग एक साथ ही कष्ट में पड़ गये।

मतलब यह, कि जो कुम्भकलश फूट गया है, उसके बनाने की विधि यदि उन लोगों में से किसी को मालूम होती, तो उन लोगों को कष्ट में न पड़ना पड़ता। इसलिये पदार्थ देकर सुख देने की अपेक्षा, सुख प्राप्ति का उपाय बताना बहुत बड़ा उपकार है। साधु लोग यही उपकार करते हैं। वे पदार्थ द्वारा सुख देकर अकर्मण्य नहीं बनाते, किन्तु धर्म सुनाकर सुख-प्राप्ति का उपाय ही बता देते हैं; जिसमें फिर दुःख हो ही नहीं। वे लोग आध्यात्मिक विद्या सिखाते हैं। सब ऋद्धि इस विद्या को जाननेवाले की दासी है। यह विद्या जाननेवाले को किसी भी प्रकार की कमी नहीं रहती।

यद्यपि पदार्थ देकर सुख देने का उपकार करने की अपेक्षा पदार्थ-निर्माण की विधि बताने का उपकार कहीं अधिक है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि अधिक के अभाव में न्यून दिया

ही न जावे। जिस के पास जो है, वह वही दे सकता है। साधुओं के पास सुख देनेवाले पदार्थ नहीं हैं, लेकिन सुख-प्राप्ति का उपाय वे जानते हैं। इसलिये दूसरे को भी वे वही देते हैं। और गृहस्थ के पास सुख देनेवाले पदार्थ हैं--सुख-प्राप्ति का उपाय वे स्वयं भी नहीं जानते--इसलिये गृहस्थ अपने पास जो कुछ है, वही देता है।

१३

भगवान का उपदेश ।

सुबाहुकुमार ने निश्चय किया, कि मैं भगवान के हस्तिशिखर नगर में पधारने पर दीक्षा लेकर अपना शरीर परोपकार में समर्पण करूँगा। भगवान सर्वज्ञ थे, इसलिये उन्हें सुबाहुकुमार के इस निश्चय को जानने में देर न लगी। सुबाहुकुमार के निश्चय को जानकर वे हस्तिशिखर नगर की ओर पधारे।

भगवान यद्यपि पधार तो रहे हैं सुबाहुकुमार के आत्मा की प्रार्थना पर, परन्तु उन्हें किसी से पक्षपात नहीं है। वीतराग होने के कारण वे तो सभी का कल्याण चाहते हैं। इसलिये ग्रामानुग्राम विहार करते हुए और: लोगों को दर्शन देकर तथा धर्मोपदेश देकर कृतार्थ करते हुए, वे हस्तिशिखर नगर के उसी पुष्पकरण्ड उपवन में पधारे।

सारे नगर में भगवान के पधारने की खबर बिजली की तरह फैल गई। सब लोग भगवान के दर्शन करने, उन्हें वन्दना नमस्कार करने और भगवान के मुख-कमल से निकले हुए श्रवणामृत उपदेश को श्रवण करने के लिये, पुष्पकरण्ड

उद्यान की ओर चले। सुबाहुकुमार को भी भगवान के पधारने की शुभ-सूचना मिली। वह भी पहले की ही तरह भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ। सब लोगों के वन्दना नमस्कार कर चुकने पर और यथा स्थान बैठ जाने पर, भगवान सब को धर्मोपदेश सुनाने लगे। वे फरमाने लगेः —

ऐ संसार के प्राणियो! अपने भूत और भविष्य का विचार करो। एक दिन वह था, जब कि तुम निगोद में पड़े थे। उस समय तुम्हें क्या क्या कष्ट भोगने पड़े, यह तुम्हें आज मालूम नहीं है। किसी पुण्य के उदय होने से, तुम उस निगोद से निकलकर क्रमशः एकेन्द्रि, द्वैन्द्रिय, त्रैन्द्रिय, और चौन्द्रिय शरीर में आये। पश्चात् तुम्हारी पुन्वानी और बढ़ी, जिससे तुम्हें पंचेन्द्रिय और उसमें भी यह उत्तम मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। मनुष्य-शरीर प्रात होने से पूर्व तुम्हें किन-किन कष्टों को सहना पड़ा है, इसके लिये तुम वनस्पति, पतंगादि कीड़े-मकोड़े और पशुओं को देखो। उन्हें देखकर और उनके कष्टों का पता लगाकर अपने भूत का निश्चय करो, कि हमने इन कष्टों को न मालूम कितनी बार सहा है। तुम लोग यदि उतनी दूर की बात न देखना चाहो, तो इस मनुष्य-शरीर पर से ही अपने कष्टों का पता लगाओ। इस मनुष्य-शरीर में जन्म धारण करने के पूर्व--माता के गर्भ में तुम लोगों ने कितना कष्ट सहा है! नौ मास तक-एक संकुचित स्थान में--उल्टे टँगे रहना, मल मूत्रादि में लिपटे रहना, क्या

कम कष्ट है ? इन कष्टों को निरन्तर भोगते-भोगते तुम्हें यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। यह शरीर क्यों प्राप्त हुआ है ? इस शरीर के प्राप्त होने से क्या लाभ है ? क्या इस शरीर को भी तुम लोग उसी प्रकार गमाना चाहते हो, जिस तरह कि अन्य शरीरों को गमाया है ? मनुष्य शरीर के सिवा दूसरे शरीर में तो तुम में भूत--भविष्य के विचारने की शक्ति नहीं थी, इसलिये उन शरीरों को उस तरह व्यतीत कर देने पर तुम्हें कोई मूर्ख नहीं कह सकता, परन्तु इस मनुष्य-शरीर को--जिसमें कि भूत-भविष्य के विचारने की शक्ति है--उसी तरह व्यतीत कर देना, क्या मूर्खता न होगी ? क्या यह शरीर भी उन्हीं कार्यों के लिये मिला है, जिन कार्यों को अन्य शरीरों में रहकर भी किया जाता है ? तुम जिन भोगों में सुख मानकर निश्चिन्त बैठे हो, वे भोग ही तुम्हारे शत्रु हैं। इन भोगों से ही तुम्हारा पतन होगा। यह मनुष्य--शरीर इन भोगों को भोगने के लिये नहीं है। ये भोग तो पशु--शरीर में भी भोगे जा सकते हैं, इसलिये इनको भोगना ही मनुष्यता का चिन्ह नहीं है। मनुष्य-शरीर तुम्हें तप के लिये मिला है। इस मनुष्य शरीर को पाकर तप द्वारा आत्म--कल्याण करो और ऐसा सुख प्राप्त करो, जिसके पीछे दुःख न हो। यदि यह मनुष्य--शरीर भी तुमने उसी प्रकार व्यतीत कर दिया--जिस प्रकार कि अन्य शरीरों को व्यतीत किया है, तो तुम्हारे लिये वे ही कष्ट तय्यार हैं, जिन्हें तुम भूतकाल में भोग चुके हो। इसलिये ऐसा कार्य करो, जिसमें वे दुःख फिर न भोगने पड़ें।

श्रोतागण ! मेरा और तुम्हारा आत्मा समान-रूपी है। जो मैं हूँ, वही तुम हो। अन्तर केवल इतना ही है, कि मेरा आत्मा अज्ञान-आवरण से ढका हुआ नहीं है और तुम्हारा आत्मा ढका हुआ है। जिन कष्टों का मैंने दिग्दर्शन कराया है, वे कष्ट मैं भी भोग चुका हूँ और अपने भूतकाल के अनुभव पर से ही मैं सतत इस उद्योग में लगा हूँ, कि अब मुझे वे कष्ट न भोगने पड़ें। मैं तुम लोगों से भी यही कहता हूँ, कि भूतकाल में भोगे हुए कष्टों का स्मरण करके अपना भविष्य देखो और ऐसे कार्य करो, कि जिनसे भविष्य में पुनः वे कष्ट न भोगने पड़ें।

तुम्हारा आत्मा भविष्य के कष्ट से तभी मुक्त हो सकता है, जब यह मोक्ष प्राप्त कर ले। जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं करता है--जब तक इसके पीछे जन्मना-मरना लगा है-तब तक इसे वे कष्ट भोगने ही पड़ेंगे, जिन्हें कि यह भोग चुका है। इसलिये उन उपायों को काम में लाओ, जिनके काम में लाने पर आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कामानां हृदये वासः संसार इति कीर्तितः।
तेषां सर्वात्मना नाशो मोक्ष उक्तो मनीषिभिः॥

अर्थात्-हृदय में जो कामनाओं का निवास है, उसी को संसार कहते हैं और उनके सब तरह से नाश हो जाने को ही मोक्ष-मार्ग कहते हैं।

किसी प्रकार की लालसा का न होना ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक लालसाएँ बनी हुई हैं-हृदय से निकली नहीं हैं, तब तक मोक्ष की इच्छा करना, पवन को मुट्ठी में रोकने की चेष्टा करना है। इसलिये लालसाओं का त्याग करो। लालसाओं को त्यागने के लिये सब से पहले हिंसा का त्याग करना होता है। बिना हिंसा का त्याग किये, लालसाएँ नहीं मिट सकतीं। हिंसा का त्याग करने के लिये, झूठ को छोड़ना पड़ता है। जहाँ झूठ है, वहाँ हिंसा है और जहाँ हिंसा है, वहाँ लालसा है। बिना झूठ छोड़े, हिंसा नहीं छूट सकती और बिना हिंसा छोड़े लालसा नहीं मिट सकती। झूठ का त्याग करने के लिये चोरी का त्याग करना आवश्यक है। बिना चोरी त्यागे, झूठ नहीं छूट सकता और जहाँ झूठ है, वहाँ हिंसा भी है तथा लालसा भी है। चोरी को त्यागने के लिये, ब्रह्मचर्य का पालन करना आवश्यक है। बिना ब्रह्मचर्य पालन किये-बिना इन्द्रियों को वश में किये-न तो चोरी छूट सकती है, न झूठ या हिंसा ही। ब्रह्मचर्य पालन करने के लिये परिग्रह का त्याग करना पड़ता है। जहाँ परिग्रह है, वहीं अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और हिंसा भी है। पाप करानेवाला, परिग्रह ही है। आत्मा को संसार में भटकाने का मूल कारण परिग्रह ही है। इसलिये परिग्रह को छोड़ो। संसार की जिस वस्तु से आत्मा को ममत्व है, आत्मा के लिये वही परिग्रह है। इसलिये संसार की प्रत्येक वस्तु से ममत्व त्याग दो। इस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिये सब से पहले परिग्रह का, फिर

अब्रह्मचर्य, चोरी, झूठ और हिंसा का क्रमशः त्याग करना होता है। जो आत्मा इसका जितने अंश में त्याग करेगा, उसकी लालसाएँ उतनी ही कम होंगी और लालसाएँ जितनी कम होंगी, मोक्ष के वह उतना ही समीप होगा। इनको पूर्णरूप से त्यागने वाला मोक्ष के बिलकुल ही समीप होगा और कभी न कभी वह मोक्ष प्राप्त कर लेगा। इसलिये अस्थायी तथा अवास्तविक हानि, लाभ, सुख और दुःख का विचार छोड़कर, अपने उस हानि, लाभ, और दुःख का विचार करो, जो वास्तविक तथा स्थायी है। मोक्ष को प्राप्त कर लेने पर, आत्मा के लिये दुःख का अस्तित्व ही उठ जाता है, अतः मोक्ष-प्राप्ति का उपाय करो, जिसमें आत्मा का कल्याण हो।

भगवान के मर्म-स्पर्शी उपदेश को सुनकर, श्रोता-समाज आह्लादित हो उठा। चारों ओर से, धन्य-धन्य और जय-जय की ध्वनि सुनाई देने लगी। भगवान के उपदेश का प्रभाव सब पर उत्तम पड़ा। भगवान के उपदेश का विचारपूर्वक मनन करने और उसके अनुसार कार्य करनेवालों में से, एक सुबाहुकुमार का इतिहास हमारे सामने मौजूद है। इस उपदेश ने, सुबाहुकुमार के हृदय के उस रात वाले विचार को और पुष्ट कर दिया। अब उसने आत्म-कल्याण का दृढ़ संकल्प किया।

उपदेश-कार्य समाप्त हो जाने पर, सब लोग भगवान को वन्दना नमस्कार कर-करके अपने-अपने घर चले गये, लेकिन

सुबाहुकुमार वहीं ठहरा रहा। सब के चले जाने के पश्चात् उसने भगवान को वन्दना-नमस्कार किया।

यद्यपि भगवान इस बार हस्तिशिखर नगर की ओर, सुबाहुकुमार के आत्मा की प्रार्थना पर ही पधारे हैं, फिर भी भगवान ने उससे यह नहीं कहा, कि मैं तुम्हारे उस रात वाले विचार को जानकर आया हूँ। यह भगवान की गंभीरता का कारण है। भगवान की इस गंभीरता को देखकर सुबाहुकुमार को बहुत आनन्द हुआ।

वन्दना-नमस्कार करके, सुबाहुकुमार नम्रता सहित भगवान से प्रार्थना करने लगा-प्रभो! आपकी गंभीरता और भक्त-वत्सलता को धन्य है। आपके गाम्भीर्य और वात्सल्यपूर्ण हृदय की थाह मिलनी सर्वथा असम्भव है। मेरा हृदय कहता है, कि आप मेरे हृदय के भावों को जानकर ही पधारे हैं, फिर भी आपने मुझसे कुछ नहीं कहा। आपने अपने पधारने का कारण मुझे नहीं बताया, न ऐसा करके मुझ पर किसी प्रकार का दबाव ही डाला। आपका कुछ न कहना तो गम्भीरता का परिचायक है, परन्तु यदि मैं भी चुप रह जाऊँगा, आपसे अपने हृदय की बात न कहूँगा-तो ऐसा करना मेरे कल्याण-मार्ग का बाधक होगा। इसलिये मैं वह बात निवेदन करना उचित समझता हूँ, जिसके लिये मेरे आत्मा ने आपको इधर पधारने की प्रेरणा की है।

हे जगतारण! श्रावक के बारह व्रत धारण करने के समय, मैंने अपने आपको साधु-व्रत धारण तथा पालन करने के लिये असमर्थ बताया था। वास्तव में उस समय मैं असमर्थ ही था। लेकिन अब मैं समर्थ होगया हूँ। मैंने, अपने निकट और दूर के सब सम्बन्धों को देखकर, भूत और भविष्य पर भी विचार किया है। संसार में मेरा सच्चा साथी कोई नहीं है, जो मुझे कष्ट के समय सहायता दे। साथ ही, मैं इस बात का भी इच्छुक हूँ, कि जिन कष्टों को मैं अनन्त बार सह चुका हूँ, उन्हें अब न सहूँ। अब उन कष्टों से मैं बचना चाहता हूँ। इसलिये मेरी इच्छा है, कि मैं माता-पिता से आज्ञा लेकर, आपके पास दीक्षित हो संयम का पालन करूँ।

सुबाहुकुमार की इस विनम्र-प्रार्थना के उत्तर में, भगवान ने फर्माया- सुबाहुकुमार, जिस शुभ-कार्य के करने में तुम अपना कल्याण देखते हो, उसके करने में विलम्ब मत करो।

भगवान का उत्तर सुनकर और उन्हें वन्दना नमस्कार करके, हर्षित हृदय सुबाहुकुमार अपने घर आया। उस समय उसके मन में अपूर्व आनन्द था।

१४

आज्ञा-प्राप्ति

रम्याश्चन्द्रमरीचयस्तृणवती रम्यावनान्तस्थली ।
रम्यः साधु समागमः शम सुखं काव्येषु रम्याः कथाः ।
कोपोत्पादित बाष्पविन्दु तरलं रम्यं प्रियायाः मुखं ।
सर्वंरम्यमनित्यतामुपगते चित्ते न किंचित्पुनः ॥

भ० वै० श०

अर्थात्-चन्द्रमा की किरणें, उद्यान का हरी-हरी घास-वाला स्थान, सज्जनों का समागम, शृंगार-रस की कविताएँ और क्रोधाश्रुओं से चंचल प्यारी का मुख; ये पहिले तो मन को मोहित करते थे, परन्तु जब से संसार की अनित्यता समझ में आई, तब से ये सब अच्छे नहीं लगते ।

जिस उत्साह के साथ सुबाहुकुमार भगवान के पास से आया था, उसी उत्साह में वह अपने माता-पिता के महल में गया। माता-पिता को पुत्रोचित अभिवादन करके, सुबाहुकुमार ने उनसे प्रार्थना की-हे माता-पिता, मैंने इस संसार के प्रत्येक पदार्थ पर विचार किया, तो मुझे इन

पदार्थों में से ऐसा कोई भी नहीं दिखा, जो आत्मा की अन्त तक सहायता करे और उसे दुःख से बचावे। इन पदार्थों का जो कुछ सम्बन्ध है, वह केवल इस शरीर तक ही। इस शरीर के छूटते ही, आत्मा का सब पदार्थों से सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। बल्कि जिस शरीर में यह आत्मा अभी रमकर बैठा है, वह शरीर भी इस आत्मा का संग देने वाला नहीं है। मेरे आत्मा ने, अनन्त बार नर्कादि के कष्ट भोगे हैं। यदि इस मनुष्य शरीर को पाकर भी, आत्मा उन कष्टों से बचने का उपाय न करे, तो इसकी यह बड़ी ही मूर्खता होगी। यद्यपि आप लोगों का मुझ पर बहुत उपकार है और प्रेम भी है; आप लोग मेरे विचार को सुनकर प्रारम्भ में दुःखित हों, ऐसा सम्भव है; लेकिन आप क्षत्रिय हैं, अतः मेरी प्रार्थना सुनकर दुखित न हों, किन्तु प्रसन्न हों। मैंने अपने मन में यह संकल्प किया है, कि इन सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध तोड़कर, भगवान महावीर के पास दीक्षा ले आत्म-कल्याण करूँ। दया करके आप दीक्षा लेने की स्वीकृति प्रदान कीजिये।

संतान पर माता-पिता का असीम उपकार है। क्रीत-दास तो अपने क्रयी से रुपया देकर मुक्त भी हो सकता है, परन्तु सन्तान-अपने माता-पिता द्वारा किये गये उपकार से-किसी समय भी उऋण नहीं हो सकती। इसीलिये दीक्षा ऐसे शुभ-कार्य में भी, सन्तान, माता-पिता की आज्ञा के

विना प्रवृत्त नहीं हो सकती। दीक्षा देने वालों के लिये भी शास्त्रों में यही आज्ञा है, कि दीक्षा लेने वाले के माता-पिता --या उनके अभाव में उसके संरक्षक--की आज्ञा के विना कोई साधु या साध्वी किसी पुरुप या स्त्री को दीक्षा नहीं दे सकते। विना आज्ञा दीक्षा देनेवाला साधु, सहधर्मी का चोर है और इस चोरी का प्रायश्चित है नई दीक्षा। मतलव यह, कि सन्तान पर माता-पिता के उपकार को शास्त्रकारों ने भी माना है, इसीलिये दीक्षा धारण करने--या दीक्षा देने-के पहले उनकी स्वीकृति की आवश्यकता वताई है।

यद्यपि पहले के लोग दीक्षा को उत्कृष्ट-कार्य और संसार के विपय--भोग भोगने को निकृष्ट-कार्य समझते थे, परन्तु स्वाभाविक सन्तान--प्रेम, माता--पिता के वज्र ऐसे कठोर हृदय को भी नम्र वना देता है। यह संसार का नियम ही है। सांसारिक मनुष्य को सन्तान का वियोग कुछ क्षण के लिये व्यथित कर देता है। माता-पिता को अपनी लड़की का विवाह करने के पूर्व यह मालूम रहता है, कि विवाह कर देने पर लड़की हमारे यहाँ से अपनी ससुराल को चली जावेगी। इस वात को जानते हुए भी वे अपने हाथ से ही लड़की का विवाह करते हैं; फिर भी जव लड़की उनके समीप से अपनी ससुराल को जाने लगती है, तो वे उसकी विदाई के समय वहुत दुःख करते हैं। इसी प्रकार संयम को उत्कृष्ट समझते हुए भी, माता-पिता के हृदय को सन्तान-प्रेम दुःखित कर

देता है। उसमें भी पिता की अपेक्षा माता को सन्तान-वियोग का कष्ट अधिक दुःखदायी जान पड़ता है। पिता की अपेक्षा माता में सन्तान-प्रेम अधिक है। धारिणीरानी वीर-पुत्री है, वीर--रमणी है और वीर-माता है, परन्तु सन्तान-प्रेम ने उसे भी व्यथित कर दिया। दीक्षा ऐसे उत्कृष्ट-कार्य के लिये जाते हुए पुत्र के वियोग की बात, उसे असह्य हो उठी। पुत्र की बात सुनकर वह जीवित ही मृत—सी हो गई। उसके शरीर से पसीना छूटने लगा, कण्ठ रुँध गया, आँसू बहने लगे और रोमांच हो आया। वह अपने मुँह से पुत्र की बात का कुछ भी उत्तर न दे सकी और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी। सचेतावस्था की अपेक्षा उसे यह अचेतावस्था सुखदायिनी प्रतीत हुई। इस अवस्था में उसे पुत्र-वियोग की बात सुनने का भय न था, लेकिन वह इस अवस्था में अधिक समय तक न रह सकी और समयोपयोगी द्रव्यों की सहायता से, दासियों ने उसे सचेत किया।

माता के सचेत होजाने पर, सुबाहुकुमार कहने लगा --माता, आप क्षत्राणी होकर इस प्रकार व्यथित होती हैं? क्षत्राणी, अपने पुत्र को रण में भेजने के लिये स्वयं सजाया करती है। यदि मैं भी युद्ध में जाता होता, तो आप मुझे भी सजातीं, हर्ष करतीं, तथा अपने को धन्य मानतीं। फिर इस समय इतना दुःख क्यों करने लगीं? जिस युद्ध के लिये आप मुझे हर्ष-पूर्वक सजातीं, वह युद्ध तो लौकिक--युद्ध है और मैं

लोकोत्तर-युद्ध में विजय प्राप्त करने जारहा हूँ। लौकिक युद्ध में तो मैं अनेकों मनुष्य का-यद्यपि वे वास्तविक शत्रु नहीं हैं, फिर भी शत्रु समझकर-नाश करता, परन्तु इस लोकोत्तर युद्ध में जाकर मैं उन कर्मों का नाश करना चाहता हूँ, जो मेरे वास्तविक शत्रु हैं और जिन्होंने मुझे अनादिकाल से दुःख दे रखा है। लौकिक युद्ध के लिये, शरीर पर हथियार सजाने पड़ते हैं और लोकोत्तर युद्ध के लिये, शरीर पर मुनि-वेश सजाना पड़ता है। लौकिक युद्ध की अपेक्षा, इस लोकोत्तर युद्ध में एक विशेषता और है। वह यह, कि लौकिक युद्ध में यदि मारे गये, तो घर-बार आत्मीय आदि को अनिच्छा-पूर्वक छोड़ने का दुःख होगा, परन्तु लोकोत्तर युद्ध में यह बात नहीं है। लोकोत्तर युद्ध में जाने के समय, इन सब को स्वेच्छा-पूर्वक छोड़ दिया जाता है, इसलिये इस युद्ध में यदि शत्रुओं का नाश करते करते काम भी आगये, अर्थात् मर भी गये, तब भी किसी प्रकार का दुःख नहीं हो सकता। आप इन सब बातों पर विचार करिये और प्रसन्न हृदय से मुझे दीक्षा के लिये अनुमति प्रदान कीजिये।

धारिणीरानी की आँखों से आँसू बह रहे थे। वह बहुत ही दुःखित थी। सुबाहुकुमार के उक्त कथन के उत्तर में रुँधे-कंठ से आँसू बहाती हुई वह कहने लगी-हे वत्स, तुम हमारे एकमात्र पुत्र हो। तुम हो भी सुपुत्र, इसलिये हमारी समस्त आशाएँ तुम्हीं पर अवलम्बित हैं। जीवनधन! तुम हम लोगों

को आनन्द देने वाले हो। हम, तुम्हारा वियोग सहना तो दूर रहा, वियोग की बात भी नहीं सुनना चाहते। हम लोग वृद्ध हैं, हमें तुम अपने वियोग के दुःख में डालने की इच्छा मत करो। तुम्हारी अवस्था भी भोग के योग्य है, भोग त्यागने के योग्य नहीं है। यदि तुम्हें दीक्षा लेनी ही है, तो तुम हमारे मरने के बाद चाहे दीक्षा ले लेना, परन्तु अभी दीक्षा मत लो। हमारे मरने के बाद यदि दीक्षा ले भी लोगे, तो हम भी तुम्हारे वियोग के दुःख से बच जावेंगे और तुम भी सुख-भोगी हो जाओगे। इसलिये, इस समय दीक्षा के विचारों को छोड़कर, पुत्र पौत्रादि द्वारा कुल की वृद्धि करो। ऐसा करने से हमें भी दुःख न होगा, वंश का नाश न होगा और फिर तुम-यदि दीक्षा भी ले लोगे तो—उसका भी सुचारु रूप से पालन कर सकोगे।

राजा अदीनशत्रु ने भी, महारानी धारिणी के उक्त कथन का समर्थन किया। माता-पिता की इस बात के उत्तर में सुबाहु-कुमार कहने लगा-हे माता-पिता! आप लोगों ने जिस दृष्टि से यह सब कुछ कहा है, उस दृष्टि से तो आपका कथन ठीक ही है, परन्तु मैं दूसरी ही दृष्टि से विचार कर रहा हूँ। मैं सोचता हूँ, कि यह मनुष्य शरीर बड़े पुण्य से मिला है। यद्यपि यह मिला है पुण्य से, फिर भी इसकी स्थिति कच्चे घड़े के समान ही है। यह कब तक रहेगा और कब नष्ट हो जावेगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है। हो सकता है, कि यह

शरीर एक क्षण में ही नष्ट हो जावे। जिस-प्रकार पानी के बुलबुले, या दूब पर के ओस-कण को नष्ट होते देर नहीं लगती, उसी प्रकार इस सुन्दर मनुष्य शरीर को नष्ट होने में भी देर नहीं लगती। ऐसी दशा में, किस विश्वास के ऊपर आत्म-कल्याण के शुभ-कार्य को इस समय स्थगित रखकर फिर पर छोड़ा जावे? अब आप लोग कहते हैं, कि हम वृद्ध हैं, अतः हमारे मरने के बाद भुक्त-भोगी होकर दीक्षा लेना। परन्तु मैं पूछता हूँ, कि क्या यह निश्चय है, कि पहले आप ही लोग मरेंगे, मैं पहले नहीं मरूँगा? क्या माता-पिता के रहते, पुत्र के न मरने का नियम है? यदि नहीं, तो फिर क्या ठीक है, कि पहले मैं ही मर जाऊँ, आप लोग पहले न मरें। ऐसी दशा में दीक्षा के कार्य को स्थगित रखना कैसे उचित होगा! आप स्वयं विचारवान हैं, अतः प्रत्येक बात पर विचार करके संसार की अस्थिरता पर ध्यान दीजिये और मुझे दीक्षा ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान कीजिये।

सुबाहुकुमार के इस उत्तर का, अदीनशत्रु और रानी धारिणी-कोई प्रत्युत्तर न दे सकीं। वे दोनों फिर सुबाहुकुमार से कहने लगे-हे वत्स! यह परम्परा से चला आता हुआ राज्य तथा हाथी घोड़े रत्नादि धन-वैभव, तुम्हारे दीक्षा ले लेने पर कौन भोगेगा? जिनको तुमने पाणिग्रहण किया है, उन्हें पति-सुख कौन देगा? वे किसे पति कहेंगी और हम किसे पुत्र कहेंगे? प्रजा अपना भावी-राजा किसे कहेगी? हमारे न रहने

पर,यह अपना राजा किसको मानेगी ? इतने मनुष्यों को दुःख में डालकर, तुम्हारा दीक्षा लेना उचित नहीं है, इसलिये राज्य-लक्ष्मी का भोग करते हुए, कुटुम्ब को सुख देते हुए, और प्रजा की रक्षा करते हुए, आनन्द-पूर्वक राज्य करो, दीक्षा मत लो।

सुबाहुकुमार फिर कहने लगा-हे माता-पिता !

यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता ।
चञ्चलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्म रतो भवेत् ॥

अर्थात्-यौवन, जीवन, मन, छाया धन और प्रभुता-ये छहों चंचल हैं-यानी स्थिर होकर नहीं रहते-यह समझकर धर्म में रत होना चाहिए।

संसार के पदार्थों की स्थिरता का कोई विश्वास नहीं है। इन्हें,चोर चुरा सकता है, अग्नि जला सकती है और शत्रु छीन सकता है। इसी प्रकार इस शरीर का भी जलना, सड़ना, गलना, नष्ट होना आदि स्वभाव है। यह भी निश्चय नहीं है, कि पहले कौन मरे। मरने पर, सुख कौन और किसे देगा? आपकी इन बातों पर मैंने पहले ही विचार कर लिया है। इन बातों में कोई सार नहीं है और न मुझे दीक्षा लेने से रोकना ही श्रेयस्कर है। मैं आशा करता हूँ, कि आप मेरे आत्म-कल्याण के कार्य में बाधा न देंगे और प्रसन्न मन से मुझे दीक्षा की आज्ञा प्रदान करेंगे। क्योंकि—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवर गृहं यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महा-
न्प्रोद्दीप्ते भवने च कूप खननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात्-जब तक शरीर स्वस्थ है, बुढ़ापा दूर है, इन्द्रियों की शक्ति बनी हुई है, आयु शेष है, तभी तक बुद्धिमान को अपने कल्याण की चेष्टा अच्छी तरह से कर लेनी चाहिए। इन सब के अभाव में कल्याण की चेष्टा करनी, घर में आग लगने के समय कूप खोदने का प्रयत्न करने के समान निरर्थक है।

राजा अदीनशत्रु और रानी धारिणी, सुबाहुकुमार की बातों से निरुत्तर होते जाते हैं-उन्हें ठीक मानते हैं-लेकिन संतान-स्नेह दीक्षा की बात को स्वीकार नहीं करता। उसकी तो यही प्रेरणा है, कि जिस तरह बने, उस तरह पुत्र को दीक्षा लेने से रोका जावे। इस प्रेरणा के वश होकर ही, राजा अदीन-शत्रु और रानी धारिणी-विषय- -भोग की उत्कृष्टता दिखाकर अपने उपाय में असफल रहने पर भी—संयम की कठिनाई बता कर, सुबाहुकुमार को दीक्षा न लेने के लिये कहने लगे। वे बोले-हे पुत्र, यद्यपि निग्रन्थ-धर्म सर्व-श्रेष्ठ है, आत्मा का कल्याणकारक है और मोक्ष प्राप्त करानेवाला है, लेकिन इसका पालन करना बहुत कठिन है। तलवार की धार पर चलना है। तुम राजपुत्र हो। तुमने अब तक कष्टों का अनुभव नहीं किया है।

संयम का पालन करने के लिये तुम्हारा साहस करना, वैसा ही दुस्साहस है, जैसा दुस्साहस हाथों के बल समुद्र पार करने का होता है। निर्ग्रन्थ-धर्म का पालन, सुख-रहित है। इसके पालन में दुःख ही दुःख हैं। तुमने अब तक अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजन किये हैं, लेकिन संयम धारण करने पर भिक्षा माँगनी पड़ेगी। उस समय भिक्षा का ही आधार होगा। यदि भिक्षा में कुछ रूखा-सूखा मिल गया, तब तो खा सकोगे, नहीं तो भूखा ही रहना पड़ेगा। साधु लोग अपने लिये बनाया हुआ, अपने लिये खरीदा हुआ, या अपने नाम पर रखा हुआ आहार भी नहीं लेते हैं, न जिसमें जीव हैं ऐसे-कन्द मूल और फल आदि ही लेते हैं। साधु होने पर, तुम्हें भी इस नियम का पालन करना पड़ेगा तुम्हें भी भिक्षा माँगनी पड़ेगी- और भिक्षा के भोजन पर ही निर्वाह करना होगा। क्या ये कष्ट कम हैं? क्या तुम्हारा यह सुकुमार-शरीर, इन कष्टों को सहन करने योग्य है! पुत्र! तुम अब तक सवारी पर ही चलते रहे हो। पैदल चलने का तुम्हें कभी काम नहीं पड़ा है, लेकिन संयम लेने पर पैदल चलना पड़ेगा और वह भी नंगे पाँव। अब तक तुम ऋतु के अनुसार महलों में रहे हो। गर्मी के दिनों में ठण्डक पहुँचाने वाली और सर्दी के दिनों में गर्मी पहुँचाने वाली वस्तुओं का सेवन करते रहे हो। शीत और घाम तुमने कभी नहीं सहे हैं, लेकिन साधु होने पर माघ-पौष का जाड़ा और ज्येष्ठ-कुँवार का घाम, तुम्हें इस कोमल शरीर पर सहन करना पड़ेगा। इस प्रकार-स्वभाव

के प्रतिकूल आहार-विहार से-अनेक रोग तुम्हें घेर लेंगे। साधुपने में होने वाले दुःखों से, तुम व्यथित हो जाओगे। इसलिये हमारा कहना मानकर, अपने दीक्षा लेने के विचारों को बदलो और आनन्द से गृहस्थी के सुख भोगो। फिर परिपक्व अवस्था में तुम चाहे संयम ले लेना, परन्तु इस समय तुम्हारा संयम लेना सब प्रकार से हानिप्रद है।

राजा अदीनशत्रु और रानी धारिणी, जब संयम में होनेवाले कष्टों का भी वर्णन कर चुके, तब सुबाहुकुमार कहने लगा--हे माता-पिता! आपका साधुपने में होने वाले कष्टों का भय दिखाना वैसा ही है, जैसा कि संग्राम में जाने वाले को अस्त्र--शस्त्र के आघात का भय दिखाना होता है। लेकिन जो आदमी संग्राम में जाने के लिये तयार होता है, वह अस्त्र-शस्त्र के आघातों के विषय में पहले ही विचार कर लेता है। इसी प्रकार संयम में होने वाले कष्टों का विचार मैंने भी पहले ही कर लिया है। संयम में होने वाली कठिनाइयें, कायरों को चाहे कष्टप्रद मालूम हों, लेकिन मुझे इनका किंचित भी भय नहीं है। साधुपन में होने वाले कष्ट, कष्ट नहीं हैं, किन्तु साधुपने की तपस्या है! इस तपस्या को करने के लिये ही, सांसारिक-सुखों को छोड़कर साधुपना लिया जाता है। कदाचित, साधुपने में होने वाले कष्टों को आप तपस्या न भी मानें--कष्ट ही मानें--तब भी ये कष्ट वैसे तो कदापि नहीं हो सकते, जैसे कि मेरे आत्मा ने पहले कई बार भोगे हैं।

मैं, न तो इन कष्टों का भय करता हूँ, न सांसारिक सुखों की चाह। कर्मवीर के लिये ये कष्ट नगण्य हैं इसलिये आप इन युक्तियों को छोड़िये और दया करके, मुझे दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कीजिये।

१५

राज्य

सुबाहुकुमार जब विषय सुख पर भी लालायित नहीं हुआ और न संयम के कष्टों से भयभीत ही हुआ, तब उसके माता-पिता, अपनी आशा की ओर से निराश होगये। वे समझ गये, कि सुबाहुकुमार दीक्षा की पूरी तयारी कर चुका है, वह कदापि मानने वाला नहीं है। हम अपनी शक्ति भर उसे समझा चुके, लेकिन उसके उत्तर से हमें चुप ही रहना होता है। अब हमें भी सन्तान के प्रेम में पड़कर इसे न रोकना चाहिए, किन्तु जिस तरह से इसका वास्तविक कल्याण होता हो, वही करना चाहिए।

इस प्रकार समझकर सुबाहुकुमार के माता-पिता ने विचार किया, कि यद्यपि सुबाहुकुमार दीक्षा ले तो रहा है स्वेच्छा-पूर्वक आत्मकल्याण के लिये, लेकिन संसार में कई तरह के लोग होते हैं। ऐसा न हो, कि कोई हमें यह दोष देने लगे, कि माता-पिता की ओर से किसी प्रकार का कष्ट रहा होगा, इसलिये सुबाहुकुमार ने दीक्षा ले ली। हमें उचित है, कि हम सुबाहुकुमार को राज्य सौंप दें। ऐसा करने में

कई लाभ हैं। एक तो यह, कि सम्भव है सुबाहुकुमार राज्य के लोभ में पड़ जाय और दीक्षा लेने का विचार छोड़ दे। दूसरा यह, कि यदि राज्य मिलने पर भी यह दीक्षा लेगा, तो हमें कोई कलंक भी न दे सकेगा और राज्य त्याग कर दीक्षा लेने से, दीक्षा का भी महत्व बढ़ेगा। संसार इस बात को जान लेगा, कि राज्य से दीक्षा बढ़ कर है, नहीं तो सुबाहुकुमार राज्य छोड़ कर दीक्षा क्यों लेता! इस प्रकार विचार कर, वे सुबाहुकुमार से कहने लगे- हे पुत्र! यदि तुम्हारी यही इच्छा है--यदि तुम हमारे इतना कहने पर भी दीक्षा लेनी ही चाहते हो--तो कम से कम हमारी एक आशा पूरी कर दो। हमारी यह इच्छा है, कि हम अपने हाथ से राज्याभिषेक करके तुम्हें राज्याधिकार सौंप दें। हमारी इस इच्छा को तो तुम पूरी कर ही दो। फिर चाहे तुम राज्य एक ही दिन करो, परन्तु एक बार हम तुम्हें राज्यासन पर बैठे हुए देख लें।

माता--पिता की यह बात सुन कर, सुबाहुकुमार यह विचार कर चुप रह गया, कि जब इन्हें इतने में ही सन्तोष होता है और इनकी यह आशा मान लेने में मेरी कोई हानि भी नहीं है--बल्कि दीक्षा का महत्व बढ़ता है--तो इन्हें अपनी आशा पूरी ही क्यों न कर लेने दूँ! अदीनशत्रु और रानी धारिणी पुत्र को चुप देख कर समझ गये, कि सुबाहुकुमार को हमारी यह बात स्वीकार है। अदीनशत्रु ने प्रधानादि

को बुलाकर राज्याभिषेक की तयारी करने की आज्ञा दी आज्ञा होते ही सारी तयारी होगई।

आज सुबाहुकुमार का राज्याभिषेक है। सारा नगर सजाया गया है। राजमहल में आज विशेष रूप से तयारी की गई है। राजा अदीनशत्रु और रानी धारिणी, सन्देह भरे हर्ष से प्रसन्न दिखाई देते हैं। सब राजकर्मचारी तथा प्रजा भी आनन्दित है, लेकिन सुबाहुकुमार को न हर्ष है, न विषाद। वह तो वैसा ही गंभीर बना हुआ है, जैसा कि सदा रहता था। ठीक समय पर सुबाहुकुमार को आठसौ चौंसठ कलश के जल से स्नान कराया गया। दुन्दुभी आदि बाजे बजने लगे। इस तरह, शुभमुहूर्त्त में विधि सहित राज्याभिषेक होकर, सुबाहुकुमार के सिर पर राजमुकुट रखा गया। उसे राज्यासन पर बैठाया गया और राजदण्ड उसके हाथ में दिया गया। चारों ओर से जय-ध्वनि होने लगी। सब लोगों ने सुबाहुकुमार को अभिवादन करके बधाई दी।

सुबाहुकुमार राजा हुआ। उसके माता पिता ने अपना अधिकार सुबाहुकुमार को सौंप दिया। उनका अनुमान है, कि अब सुबाहुकुमार दीक्षा लेने के विचारों को छोड़ देगा। यही बात सुनने की आशा से उन्होंने सुबाहुकुमार से पूछा- बेटा सुबाहु, हम अपना अधिकार तो तुम्हें सौंप चुके, अब बताओ तुम्हारी क्या इच्छा है?

माता-पिता के इस प्रश्न के उत्तर में राजा सुबाहु ने कहा, कि मैं अपने राज्याधिकार से यह आज्ञा देता हूँ कि भण्डार में से तीनलाख स्वर्णमुद्रा निकाल कर, दोलाख स्वर्णमुद्रा से तो मेरे लिये साधुओं के काम में आने योग्य पात्र और रजोहरण मँगवाये जावें तथा एक लक्ष स्वर्णमुद्रा मुण्डन करने के लिये नाई को बुलवाया जावे, उसे दी जावें।

राजा सुबाहु की बात सुनकर उनके माता पिता की समस्त आशाएँ, निराशा में परिणत हो गईं। वे समझ गये, कि सुबाहुकुमार ने केवल हमारी इच्छा रखने के लिये ही राज्य लिया है। वास्तव में इसे राज्य करना अभीष्ट नहीं है, किन्तु दीक्षा लेना अभीष्ट है। अब इसको रोकना भी उचित नहीं है।

इस प्रकार विचारकर और हृदय में धैर्य धारण करके, भूतपूर्व महाराजा अदीनशत्रु ने सुबाहुकुमार से कहा कि- यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो अब हम तुम्हें रोककर कष्ट में नहीं डालना चाहते। तुम प्रसन्नता-पूर्वक दीक्षा लो। यह कहकर उन्होंने सेवकों को बुलाकर, दोलाख स्वर्णमुद्रा देकर पात्र और रजोहरण लाने की आज्ञा दी और एक लाख स्वर्णमुद्रा देकर नाई को बुलाने की आज्ञा दी।

यहाँ प्रश्न होते हैं, कि क्या साधु के पात्र और रजोहरण दोलाख स्वर्णमुद्रा के मूल्य के होते हैं? यदि दोलाख स्वर्ण-मुद्रा के मूल्य के पात्र और रजोहरण साधु रखते हैं, तो फिर

वे निष्परिग्रही कैसे रहे ? तथा वे पात्र कैसे और किस वस्तु के होंगे, जिनका मूल्य दोलाख स्वर्णमुद्रा था ? इन प्रश्नों का समाधान नीचे किया जाता है।

साधु, केवल तीन ही प्रकार के पात्र रख सकते हैं, लकड़ी के, तुम्बे के और इनके अभावमें मिट्टी के। चाहे लकड़ी के हों, तुम्बे के हों, या मिट्टी के हों, उनका मूल्य दोलाख स्वर्ण-मुद्रा नहीं हो सकता, न मूल्य के विचार से दो लाख स्वर्ण-मुद्रा दी ही जाती थीं। यही बात रजोहरण के लिये भी है। क्योंकि, रजोहरण भी ऊन या कुशादिक का ही होता है, किसी बढ़िया चीज का नहीं होता। रही दोलाख स्वर्णमुद्रा देने की बात ; लेकिन दो लाख स्वर्णमुद्रा मूल्य-स्वरूप नहीं दी जाती थीं, किन्तु उसी प्रकार पुरस्कार-स्वरूप दीजाती थीं, जिस प्रकार नाई को केवल मुण्डन कर देने के बदले में एक लाख स्वर्णमुद्रा दी जाती थीं।

किसी वस्तु से ममत्व रखने का नाम ही परिग्रह है। चाहे वह धन हो, वस्त्र हो, या शरीर हो, उससे ममत्व न हो तो वह परिग्रह नहीं कहलाता। साधु को, अपने शरीर के रहने न रहने का भी सुख--दुःख नहीं होता, तो और किसी उपधि के रहने न रहने का दुःख साधु को कैसे होगा ? इस प्रकार साधु तो निष्परिग्रही ही हैं, और इस गुण का जिसमें अभाव है, वह साधु नहीं है।

भूतपूर्व राजा अदीनशत्रु की आज्ञानुसार, सेवक लोग पात्र रजोहरण और नाई को ले आये। स्नान करके और मंगल-वस्त्र पहनकर तथा मंगल-द्रव्य का लेप करके, नाई, महाराजा अदीनशत्रु के सामने उपस्थित हुआ और पूछा कि मुझे क्या आज्ञा है ? अदीनशत्रु ने कहा, कि तुम अपने हाथ पैर शुद्ध जल से धो, चार तह का वस्त्र मुख पर बाँध, सुबाहु-कुमार के पास जाकर उसके दीक्षा के योग्य चार अंगुल केश को छोड़ शेष-केश काट दो। यह आज्ञा सुनकर, नाई हर्षित हुआ। अदीनशत्रु की आज्ञानुसार नाई ने शुद्ध और सुगन्धित जल से अपने हाथ पैर धोये। फिर मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँध कर वहाँ आया, जहाँ उसकी प्रतीक्षा में सुबाहुकुमार बैठे हुए थे। नाई को देखकर सुबाहुकुमार, बहुत हर्षित हुआ। नाई ने, सुबाहु के-दीक्षा के योग्य चार अंगुल केश छोड़कर शेष-केश काट दिये। सुबाहुकुमार की माता ने ये केश मेरे पुत्र के हैं और अब मैं इन्हें न पाऊँगी इस विचार से-सुबाहु-कुमार के कटे हुए केशों को एक स्वच्छ वस्त्र में लेकर धोया और सुगन्धित—द्रव्य से छींटकर वस्त्र में बांध, रत्न के बने हुए डिब्बे में रख दिये।

१६

दीक्षा।

सुगन्धित द्रव्यों से पालन किये हुए सुन्दर केशों को कटाकर, सुबाहुकुमार दीक्षा के लिये तयार हो-गया। अदीनशत्रु ने विचार किया, कि यदि मेरा पुत्र जो इस समय एक राज्य का स्वामी है-चुपचाप भगवान के पास जाकर दीक्षा ले लेगा, तो दीक्षा का महत्व भी सब पर प्रकट नहीं होगा और सम्भव है, कि कोई हमारे सिर पर किसी प्रकार का अपवाद लगावे। इस प्रकार विचारकर, तथा और भी कई विचारों से, उन्होंने दीक्षामहोत्सव करने का निश्चय किया।

सब से पहले सुबाहुकुमार को एक सिंहासन पर बैठाकर सोने चाँदी के कलशों से स्नान कराया गया। फिर शरीर पोंछकर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनाये गये और सुगन्धित द्रव्य का लेपन किया गया। पश्चात् अदीनशत्रु ने, सेवकों को पालकी लाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाकर सेवक लोग एक सुन्दर तथा सुसज्जित—एक हजार आदमी से उठाई जाने वाली पालकी ले आये। उस पालकी में बनी हुई वेदी पर,

पूर्व की ओर मुँह करके सुबाहुकुमार बैठे। उसके पास ही, दाहिनी ओर राजमाता धारिणी अच्छे-अच्छे वस्त्रालंकार पहनकर बैठ गईं। सुबाहुकुमार के बाईं ओर, सुबाहुकुमार की धाय, रजोहरण और पात्र लेकर बैठी। एक तरुण स्त्री, छत्र लेकर सुबाहुकुमार के पीछे की ओर बैठी। हाथों में चँवर लिये हुई दो तरुणी, पालकी पर चढ़ीं और सुबाहुकुमार पर दोनों बाजुओं से चँवर ढोरने लगीं। एक सुन्दर तरुणी पंखा लेकर पालकी पर चढ़ी, जो सुबाहुकुमार के सामने पंखा करने लगी। एक तरुण स्त्री, जल की झारी लेकर पालकी पर चढ़ी। इस प्रकार ठाट-बाट से सुबाहुकुमार को पालकी में सवार कराया गया।

पालकी तैयार हो जाने पर, राजपिता अदीनशत्रु ने-समान रंग, समान आयु और समान वस्त्र वाले-एक हजार तरुण पुरुषों को बुलाया। आज्ञा पाकर एक सहस्र ऐसे सेवक-स्नान करके तथा अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन कर-अदीनशत्रु के पास उपस्थित हुए। अदीनशत्रु ने उन्हें पालकी उठाने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार उन्होंने पालकी अपने कंधों पर उठा ली।

एक राजा, अपने राज्य को त्यागकर दीक्षा ले रहा है, अतः कौन आदमी ऐसा होगा, जो इस दीक्षा-महोत्सव को देखने का इच्छुक न हो? सारे नगर निवासी-दीक्षा महोत्सव

देखने के अभिप्राय से--उमड़ आये । हस्तिशीर्ष राज्य की समस्त सेना भी आ उपस्थित हुई और इस प्रकार बहुत भीड़ होगई। सब लोग जयजयकार करने लगे।

बाजे गाजे के साथ सुबाहुकुमार की पालकी, नगर के बीच में होकर चली । सब से आगे सेना थी और अदीनशत्रु भी उसी के साथ थे। सेना के पीछे मंगलद्रव्य थे। मंगलद्रव्य के पीछे सुबाहुकुमार की पालकी थी और पालकी के पीछे जनसमुदाय था। इस प्रकार धूमधाम से सुबाहुकुमार की पालकी--जहाँ भगवान महावीर विराजते थे, उस-पुष्पकरण्ड उद्यान की ओर चली।

उद्यान के समीप पहुँचने पर, पालकी नीचे रखी गई। सुबाहुकुमार आदि सब उसमें से उतर पड़े। सुबाहुकुमार को आगे करके राजा अदीनशत्रु और धारिणी रानी वहाँ गये, जहाँ भगवान महावीर विराजमान थे। सबने भगवान की प्रदक्षिणा की और उन्हें वंदना नमस्कार किया।

सुबाहुकुमार की ओर संकेत करके धारिणी और अदीन-शत्रु, भगवान महावीर से प्रार्थना करने लगे--प्रभो! हम आपको शिष्य की भिक्षा देते हैं। यह सुबाहुकुमार हमारा इकलौता पुत्र है। यह हमें बहुत प्रिय है, लेकिन इसकी इच्छा आपके पास दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करने की है। यद्यपि इसका जन्म

और पालन-पोषण काम-भोगों में ही हुआ है, लेकिन यह उन काम-भोगों में उसी प्रकार लिप्त नहीं हुआ, जिस प्रकार कीचड़ में पैदा होकर भी कमल उसमें लिप्त नहीं होता है। यह उन दुःखों से डरा हुआ है, जिन्हें कि इसने भूतकाल में अनन्तवार सहा है और उनसे बचने के लिये ही यह आपकी शरण में आने का अभिलाषी है। कृपा करके आप हमारी दी हुई इस शिष्य की भिक्षा को स्वीकार कीजिये।

अपने माता-पिता के प्रार्थना कर चुकने पर, सुबाहुकुमार ने अपने शरीर के अलंकार और बहुमूल्य वस्त्रों को उतार-कर माता को दे दिये। धारिणीरानी ने उन्हें अपने अंचल में ले लिया। फिर अदीनशत्रु तथा धारिणी-दीक्षा के लिये आये हुए-सुबाहकुमार से कहने लगे--हे पुत्र! तुमने जिस कार्य के लिये घरबार आदि का त्याग किया है, उसे अच्छी तरह करना। तुम वीरपुत्र हो, अतः संयम पालने और काम क्रोधादि दोषों को मारने में पराक्रम से काम लेना। इस विषय में प्रमाद मत करना। जिन गुणों को तुम अब तक प्राप्त नहीं कर सके हो, उन्हें प्राप्त करना। यह निर्ग्रन्थ-धर्म सर्वोत्तम है। तुम्हारे भाग्य धन्य हैं, जो तुम इसमें प्रवृत्त हो रहे हो। वह दिन न मालूम कब होगा, जब हम भी इसी मार्ग के पथिक बनेंगे। बेटा! अन्त में हम यही कहते हैं, कि-साधु के पालन करने योग्य--सब नियमों का भली भांति पालन करना। इस विषय में बहुत सावधानी रखना।

इस प्रकार सुबाहुकुमार को सिखावन तथा आशीर्वाद देकर, अदीनशत्रु और धारिणी आदि सब लोग भगवान महावीर को वन्दना-नमस्कार करके, घर को लौट गये। उनके चले जाने पर—पंचमुष्टि लोच करके—सुबाहुकुमार भगवान के पास आये और प्रदक्षिणा तथा वन्दना-नमस्कार करके, हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे-हे प्रभो! यह संसार जरामरण रूपी अग्नि से जल रहा है। जिस प्रकार अपने जलते हुए घर में से लोग अधिक मूल्य की, परन्तु थोड़े बोझवाली वस्तु को निकालते हैं, उसी प्रकार मैं भी अपने आत्मा को इस संसार की अग्नि से निकालना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ, कि मुझे अब संसार की जरा-मरण रूपी अग्नि में न जलना पड़े। इसलिये मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ। कृपा करके, मुझे आप अपना शिष्य बना कर ऐसे उपायों का उपदेश दीजिये, जिनके करने से पूर्व-पाप तो कटे, लेकिन नया पाप न बँधे। साथ ही उन नियमों की भी मुझे शिक्षा दीजिये, जिनका साधु होने पर--पालन करना आवश्यक है।

सुबाहुकुमार की प्रार्थना सुन-कर, भगवान ने उसे दीक्षा दी। दीक्षा देकर, वे नव-दीक्षित सुबाहुकुमार मुनि को आचारादि धर्म की शिक्षा देते हुए कहने लगे--हे देवानुप्रिय! अब तुम मुनि हुए हो। तुमने आत्म--कल्याण की भावना से ही घर बार आदि त्यागा है। इसलिये अब ईर्यासमिति से

चलना। जहां की पृथ्वी ठहरने योग्य निर्दोष हो, वहीं ठहरना। पृथ्वी का प्रमार्जन किये बिना मत बैठना। सोना, तब कपड़े तथा शरीर का प्रमार्जन करके और समाधिभाव का उच्चा-रण करके। भोजन वही करना, जो निर्दोष हो। बोलना भी वही, जो हितकारी और प्रिय हो। इस प्रकार प्रमाद को त्याग कर, प्राणीमात्र की संयम-पूर्वक रक्षा करना।

पंचमहाव्रत के साथ ही साथ भगवान ने जो उपदेश किया, उसे मुनि सुबाहुकुमार ने भलीप्रकार स्वीकार किया। इतना ही नहीं, वह भगवान के उपदेश का सदा ध्यान रखता और पालन भी करता। वह उसी प्रकार चलता बैठता खाता सोता और जीवों की रक्षा करता, जैसा कि भगवान ने बताया था।

१७

मुनिचर्य्या ।

सखे धन्याः केचित्त्रुटितभवबन्धव्यतिकरा
वनान्ते चिन्तान्तर्विषम विषयाशी विषगताः ।
शरच्चन्द्र ज्योत्स्ना धवल गगनां भोग सुभगां
नयन्ते ये रात्रिं सुकृतचयाचित्तैकशरणाः ॥

भ० वै० श०

अर्थात—हे मित्र ! वे पुरुष धन्य हैं, जो अन्तःकरण में रहने वाले—सर्प के सदृश कठिन-विषयों से रहित होकर भव—बन्धन को नष्ट कर चुके हैं तथा सुकृत को ही अपना रक्षक मानते हैं और शरदचन्द्र की चाँदनी से उज्ज्वल आकाशवाली रात को वन में व्यतीत करते हैं ।

जो सुबाहुकुमार, राजा—या राजकुमार था, वही आज मुनि है । जो अनेक सेवकों से सेवित था, आज वह स्वयं मुनियों की सेवा कर रहा है । जो अच्छी—अच्छी सवारी पर चला करता था आज वह पैदल ही चल रहा है और वह भी नंगे पाँव । जो अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन किया करता था, वह आज भिक्षा के अन्न

पर निर्वाह कर रहा है। जो नाटक नृत्य देखने और काम-भोग भोगने में आनन्द मानता था, वही आज इन सब से विरक्त है। उसके मनमें इनकी किंचित भी अभिलाषा नहीं है, बल्कि वह पहले की इन बातों का स्मरण भी नहीं करता है। उसके जिस शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण सजे रहते थे-चँवर डुला करते थे और छत्र लगा रहता था-उसी शरीर पर आज मुनियों के वस्त्र हैं; चँवर छत्र की जगह सिर पर पगड़ी भी नहीं; है। बल्कि—थोड़े से वस्त्रों के सहारे—उसे शीत-ताप अपने शरीर परही सहना पड़ता है। इतना परिवर्तन होने पर भी, सुबाहुकुमार पहले की अपेक्षा अब आपने आपको सुखी मान रहा है। इसका कारण यही है, कि उसने सांसारिक भोगों को निस्सार समझकर-स्वेच्छापूर्वक त्यागा है भोगोंने इसे नहीं त्यागा है। यदि इसकी इच्छा न होते हुए भोग इसे छोड़ देते, तब तो संभव था कि इसे दुःख होता लेकिन ऐसा नहीं हुआ था।

लौकिक राज्य और सुख को छोड़नेवाले महात्मा लोग संयम में अपने लिये अलौकिक राज्य और सुख का अनुभव करते हैं। लौकिक राज्य और सुख में तो कई प्रकार के झगड़े भी हैं। उनको प्राप्त करने के लिये तो कई प्रकार के पाप भी करने पड़ते हैं और फिर भी उस राज्य तथा सुख के स्थिर रहने का कोई विश्वास नहीं है। परन्तु महात्मा लोग जिस राज्य और सुख को भोगते हैं, उसमें न तो किसी प्रकार

के झगड़े झंझट ही हैं, न उसके लिये पाप ही करना पड़ता है। यह अलौकिक राज्य और सुख अस्थायी भी नहीं है किन्तु स्थायी है, तथा उत्तरोत्तर वृद्धि भी करता है। महात्मा लोग जिस राज्य और सुख को भोगा करते हैं वह इस प्रकार है--

महीं रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानंचाकाशं व्यजन मनुकूलोऽयमानिलः।
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति वनिता संग मुदितः
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृपइव ॥

भ० वै० श०

अर्थात्-मुनि लोग पृथ्वी को ही सुखदायिनी शय्या मान कर आनंद से उस पर सोते हैं। हाथ ही उनका तकिया है। आकाश ही उनके लिये चादर है। अनुकूल हवा ही उनके लिये पंखा है। चन्द्रमा ही दीपक है। विरक्ति उनकी स्त्री है। इस प्रकार मुनिलोग-विरक्ति रूपी स्त्रीको लेकर वल वैभव सम्पन्न राजाओं की तरह शान्ति से सोते हैं।

एक राजा-या राजकुमार--को अपना राजपाट धन स्त्री आदि त्याग कर, राजसी वस्त्राभूषणों के बदले थोड़े से-आवश्यक और मुनियों के कपड़े पहने हुए, तथा भिक्षा मांगते हुए देखकर, लोगों के हृदय में धर्म के प्रति कैसी श्रद्धा होती होगी, इसे आज कौन कह सकता है! ऐसे राज्य-त्यागी

मुनियों को देख कर, लोगों के हृदय में संसार के प्रति घृणा और संयम के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। उस समय के लोगों को यह विचार अवश्य होता होगा, कि यदि-राज्य, धन, स्त्री, आदि-विषय सुखों में ही सुख होता तो ये मुनि इन्हें क्यों त्यागते! इस प्रकार विचारने वाले लोग धन राज्य स्त्री आदि-विषय सुखों में ममत्व रख कर उनके होने में सुख या न होने तथा नष्ट होने में दुख न मानते होंगे, न उनको प्राप्त करने के लिये अन्याय का ही आश्रय लेते होंगे, किन्तु ऐसे त्यागी महात्माओं के आदर्श को देख—देख कर, विषयों के प्रति घृणा करते होंगे। ऐसे त्यागियों का उपदेश भी बड़ा ही प्रभावशाली होता है, इसलिये उनके उपदेश से भी न मालूम कितने लोगों का कल्याण होता होगा।

वेश परिवर्त्तन के साथ ही साथ सुबाहुकुमार के विचार और स्वभाव में भी परिवर्त्तन हो गया। पहले उसका ध्यान विषय- -भोग की ओर रहता था, परन्तु अब उसका ध्यान पांचों सुमति पर है। मन वचन और काय को, वह सदा गुप्त रखता है। चलने फिरने बैठने बोलने आदि में जयणा का सदा ध्यान रखता है। इस प्रकार वह साधु-क्रिया में निपुण हुआ। फिर-ज्ञान की सहायता मिलने से-जैसे जैसे उसके आत्मा का विकास होता चला, वैसे ही वैसे उसकी क्रिया भी उज्ज्वल होने लगी।

क्रिया के साथ ही साथ सुबाहुकुमार मुनि ज्ञान भी प्राप्त करता जाता था। यद्यपि सुबाहुकुमार पहले ही विनीत और

नम्र था परन्तु ज्ञान प्राप्ति के लिये उसने बहुत विनय और नम्रता धारण की। बुद्धि की तीक्ष्णता और विनय तथा नम्रता के प्रताप से, उसने स्थविर मुनियों से थोड़े ही समय में ग्यारह अंगों का अध्ययन कर लिया।

आत्मा को अपने अभ्युदय के लिये ज्ञान का प्राप्त करना उतना ही आवश्यक है, जितना आवश्यक शरीर को बनाये रखने के लिये भोजन करना है। बिना ज्ञान के आत्मा का उत्थान नहीं हो सकता, न ज्ञान से पवित्र कुछ और है ही। ज्ञान, इस लोक में भी सुखदाता है और परलोक में भी। भगवती सूत्र में कहा है—

ये भवे नाणे पर भवे नाणे ?

अर्थात— ज्ञान इसी भव के लिये होता है, या दूसरे भव के लिये भी ?

भगवान महावीर से गौतम स्वामी ने उक्त प्रश्न किया। इसके उत्तर में भगवान ने कहा—

गोयमा ! ये भवे नाणे पर भवे नाणे।

अर्थात्—गौतम ! ज्ञान, इस भव के लिये भी है और पर-भव के लिये भी है !

मतलब यह, कि ज्ञान, आत्मा के साथ रहता है, इस-लिये ज्ञान इस भव में भी कल्याणकारी है और परभव में भी कल्याणकारी है।

आत्मा को जन्म धारण करने पर क्रिया तो करना ही पड़ती है--जब तक जन्म—मरण लगा है, आत्मा क्रिया-मुक्त नहीं हो सकता-परन्तु तब तक की क्रिया निरर्थक है, जबतक कि ज्ञान नहीं है। बिना ज्ञान की क्रिया, थोथी है। ऐसी क्रिया से, आत्मा को मोक्षदायक कोई लाभ नहीं होता। इसीलिये शास्त्रकारों ने ज्ञान को सब से उत्तम बताया है। शास्त्र में कहा है—

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठई सव्व संजए।
अण्णाणी किं काही किंवा नाही सेयपावगं॥

अर्थात्—पहले जीवादि स्वरूप को जानने वाले ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान होने के बाद ही, उस ज्ञान के फल स्वरुप दया या क्रिया होती है। सर्व संयति साधु, इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के स्वरूप से रहते हैं। जो अज्ञानी हैं, वे क्या कर सकेंगे? अर्थात् कुछ नहीं कर सकेंगे। क्योंकि, उनके पास ऐसा कोई बल नहीं है, जिससे वे कालोचित हित और अहित के कार्य को जान सकें।

गीता में भी कहा है—

नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्र मिह विद्यते।

अध्याय ४

अर्थात्—संसार में ज्ञान से उत्तम कोई नहीं है।

जैन शास्त्रानुसार तेरहवें गुणस्थान तक तो क्रिया साथ रहती है और चौदहवें गुणस्थान में जाने पर, क्रिया छूट जाती है। उस समय केवल ज्ञान ही साथ रहता है।

गांधीजी ने गीता के :--

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

अध्याय १८

अर्थात्—जहां योगेश्वर कृष्ण हैं, जहां धनुर्धारी पार्थ हैं, वहां श्री है, विजय है, वैभव है और अविचल नीति है। यही मेरी सम्मति है।"

इस श्लोक का उक्त अर्थ लिखकर टिप्पणी में लिखा है-- "योगेश्वर कृष्ण अर्थात् अनुभव सिद्ध शुद्ध ज्ञान और धनुर्धारी अर्जुन अर्थात् तदनुसारिणी क्रिया। इन दोनों का जहां संगम होता हो, वहां संजय के कथन के सिवा और क्या परिणाम हो सकता है ?"

मतलब यह, कि जहां क्रिया ही क्रिया है, ज्ञान नहीं है, उसे इष्ट-सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती । किन्तु, जिसके पास ज्ञान के साथ क्रिया है, उसे ही इष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।

ज्ञान प्राप्त करने के लिये, नम्रता की आवश्यकता है। अनम्र आत्मा को ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता, जिस प्रकार अनम्र सोने में रत्न नहीं जड़ा जासकता। रत्न जड़ने के लिये, जैसे सोने को नम्र बनाया जाता है, वैसेही ज्ञान रूपी रत्न प्राप्त करने के लिये, आत्मा को नम्र बनाया जाता है।

१८

अन्त।

ज्ञान-ध्यान करके और बहुतसी तपस्या तथा चारित्र का पूरी तरह पालन करते हुए, सुबाहुकुमार ने अपनी शेष अवस्था मुनि-धर्म के पालन में बिताई। जब उसका अन्त समय समीप आया, तब उसने संथारा कर लिया, यानी सिवा श्वासोच्छ्वास आदि आवश्यक क्रियाओं को करने के, उसने सब क्रियाएँ त्याग दीं। यहाँ तक, कि आहार-पानी भी छोड़ दिया। इस प्रकार पूरे तीस दिन का संथारा करके, अपने पापों से आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा निवृत्त होकर, सुबाहुकुमार ने शरीर त्याग किया।

सुबाहुकुमार की तरह शरीर त्याग करने का नाम 'पण्डित-मरण' है। मृत्यु के पहले रुग्णावस्था में जब आहार—पानी आपही छूट जाता है, तब यदि आहार पानी न खाया पिया, तो कोई विशेषता नहीं है। विशेषता तो तब है, जब मृत्युकाल को समीप जान कर स्वयं ही आहार पानी त्याग दे। अर्थात्, उस समय शरीर की किंचित भी अपेक्षा न करके, निकांक्ष हो जावे। भोजन पानी की भी आकांक्षा न करे। इस प्रकार, भोजन पानी की ओर से भी निकांक्ष होकर

आत्म-ध्यान में तल्लीन होता हुआ और अपने पापों का पश्चाताप करता हुआ, जो शरीर त्याग करता है, वही पण्डित-मरण से मरने वाला है।

सुबाहुकुमार के शरीर त्याग करने पर सुबाहुकुमार के साथी मुनि ने, सुबाहुकुमार के वस्त्र पात्रादि लाकर भगवान महावीर के सामने रखे और प्रार्थना की कि-हे भगवन, सुबाहुकुमार मुनि ने इस भव के आयु को क्षय कर दिया है। उनका आत्मा, नश्वर शरीर को छोड़ गया। उन्होंने अपने शरीर को धर्मध्यान करते हुए, पण्डित-मरण से त्यागा है।

सुबाहुकुमार के विषय में उक्त समाचार पहुँचने के समय, श्री गौमतस्वामी भी भगवान महावीर की सेवा में उपस्थित थे। यह समाचार सुनकर उन्होंने भगवान से पूछा-प्रभो, सुबाहुकुमार का आत्मा इस समय किस गति को प्राप्त हुआ है और मोक्ष को कब प्राप्त करेगा? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा-हे गौतम! इस समय सुबाहुकुमार का आत्मा, सुधर्मकल्प नाम के प्रथम देवलोक में देवता हुआ है। वहां की आयु भव और स्थिति को क्षय करके वह मनुष्य होगा। वहां भी वह सुबाहुकुमार के भव की ही तरह-संसार त्याग कर संयम धारण करेगा और बहुत वर्षों तक संयम को पाल कर, पण्डित-मरण से शरीर त्याग, सनत्कुमार नाम के तीसरे देवलोक में उत्पन्न होगा। तीसरे स्वर्ग से वह फिर मनुष्य जन्म धारण करेगा और

इसी प्रकार से शरीर त्याग-त्याग कर, क्रमशः ब्रह्मलोक नाम के पांचवें, महाशुक्र नाम के सातवें, आनत नाम के नौवें, और आरण नाम के ग्यारहवें देवलोक में उत्पन्न होगा। ग्यारहवें देवलोक से चल कर, सुबाहुकुमार का आत्मा फिर मनुष्य जन्म धारण करेगा और इसी प्रकार से संयम पालन करते हुए पण्डित--मरण से मरकर सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होगा। वहाँ से वह अन्तिम बार महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य-जन्म धारण करेगा। यहां भी वह अनेक ऋद्धि से सम्पन्न होगा, लेकिन संसार जाल में न फँसेगा; किन्तु संयम धारण करेगा। संयम का पूरी तरह पालन और आत्मचिन्तन करते हुए, उसे केवल ज्ञान प्राप्त होगा। फिर उसी प्रकार पण्डित-मरण से शरीर त्याग कर--जिस मोक्ष के लिये इन सब भवों में संयम धारण करता रहा है, कष्ट सहता रहा है और मानापमान का ध्यान न रखकर समभाव रखता रहा है--उस मोक्ष को प्राप्त करेगा। अर्थात् सिद्ध हो जावेगा और निर्वाण प्राप्त करेगा। फिर उसे इस संसार में जन्म--मरण न करना पड़ेगा।

श्री सुधर्मास्वामी ने, जम्बूस्वामी को उक्त कथा सुनाकर कहा—हे जम्बू, भगवान ने सुख का कारण और उसके प्राप्त होनेका जो उपाय बताया है, वह इस कथा से तुम भली भाँति समझ चुके होओगे। धर्म तथा पुण्य का फल है सुख। वास्तव में सुख वही है, जो दिनोंदिन वृद्धि करे

और जिसके पीछे दुःख न हो। जिस सुख के पीछे दुःख है, जो सुख सदा रहनेवाला नहीं किन्तु क्षणिक है; जिस सुख से आत्मा का उत्थान नहीं होता, किन्तु पतन होता है और जिस सुख से आत्मा को जन्म-मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है; वह सुख, सुख नहीं किन्तु दुःख ही है। सुख तो वही है, जो स्थायी है, और जिसे प्राप्त कर लेने पर आत्मा क्रमशः अपनी उन्नति करता जाता है, तथा उसे जन्म-मरण नहीं करना पड़ता। ऐसे सुख को प्राप्त करने का उपाय, विषयभोग का तिरस्कार और संयम का सत्कार है। संयम का सत्कार और विषयभोग का तिरस्कार करने के लिये, पहले संयम पर श्रद्धा लानी होती है। संयम पर श्रद्धा लानेवाला--एकदम से नहीं, तो कभी न कभी-उस सुख को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। संयम पर श्रद्धा रखनेवाला-यथाशक्ति अपने आपको पापों से बचाता हुआ-धर्म उपार्जन करेगा और इस तरह की पुण्य-प्रकृति बाँधेगा, कि भविष्य में वह-पापों से बचता हुआ-धर्म-कार्य में अधिकाधिक प्रविष्ट हो सके। इसके लिये वह, दान, परोपकार, दया, रक्षा, सहृदयता आदि सद्गुणों को अपनाता है। इन गुणों के होने से उसे संयम पर अधिकाधिक श्रद्धा होगी। संयम पर जितनी अधिक श्रद्धा होगी, संयम उतना ही अधिक उसके निकट होगा और कभी न कभी वह संयम को प्राप्त करलेगा। संयम प्राप्त होने पर अपने

द्वारा किसी भी जीव को दुःख न पहुँचने पर--किन्तु सब जीवों का उपकार करते रहने पर वह सुख बहुत शीघ्र प्राप्त हो सकता है, जिसके पीछे दुख नहीं है और जिसे मोक्ष कहते हैं। इस मोक्ष को प्राप्त करने के लिये ही आत्मा को यह सर्वोत्तम मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है। इस मनुष्य--शरीर के प्राप्त होने पर भी, जो आत्मा मोक्ष प्राप्ति के उपाय में न लग कर विषयों में ही सुख मान लेता है, वह आत्मा अपने आपको दुःख में डालने का उपाय करता है। मतलब यह, कि विषय-भोग रूपी दुःख से छुटकारा पाकर संयम प्राप्त करना, यह तो सुख का कारण है और मोक्ष प्राप्त करना इस कारण का परिणाम (सुख) है। अर्थात् धर्म का फल है मोक्ष रूपी सुख और मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है संयम। संयम प्राप्त करने के लिये आत्मा को दया परोपकार रक्षा दान आदि से उसी प्रकार तयारी करनी पड़ती है, जिस तरह बीज बोने के लिये कृषक भूमि तयार करता है। बिना तयार की हुई भूमि में जैसे अनाज पैदा नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिस में-निर्दयता विषय--लोलुपता, स्वार्थ, अनम्रता आदि-दुर्गुण हैं, वह संयम को प्राप्त नहीं कर सकता। संयम प्राप्त करने लिये आत्मा में श्रेष्ठ गुणों का होना आवश्यक है संयम प्राप्त कर लेने पर, तथा संयम का पूरी तरह पालन करने पर, 'मोक्ष' रूपी सुख मिलता ही है।

श्री सुधर्माचार्य स्वामी द्वारा, सुख का कारण और सुख प्राप्ति का उपाय सुन कर, जम्बू स्वामी बहुत प्रसन्न हुए।

उन्होंने, सुधर्मा स्वामी को वन्दना-नमस्कार किया और तप संयम में विचरने लगे।

गुरु से किसी बात को सुन समझ कर उन्हें पुनः वन्दना-नमस्कार करना भी धार्मिक--सभ्यता है। इस सभ्यता को बताने के लिये ही, ऐसी छोटी--छोटी बातों का शास्त्रों में उल्लेख किया गया है।

१९
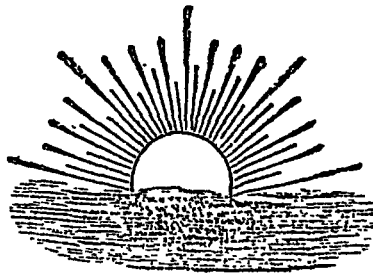
उपसंहार ।

चरित्र पढ़ने, सुनने या वर्णन करने का उद्देश्य यही होता है, कि उस चरित्र को सामने रख कर कुछ शिक्षा ली जावे। अर्थात् उस चरित्र में वर्णित उत्तम बातों को आदर्श मान कर उन्हें अपनानी और बुरी बातों को त्याज्य समझ कर, उन्हें छोडनी चाहिएँ। सुबाहुकुमार के इस चरित्र का वर्णन भी इसी उद्देश्य से किया गया है।

यह चरित्र एक ऐसे व्यक्ति का है, जिसने धर्म के संस्कार से अपने जीवन को उत्तम बना लिया और धीरे धीरे संसार के जन्म मरण से छुटकारा पाने का उपाय कर लिया। प्रत्येक मनुष्य को, अपना जीवन धर्म से संस्कृत करके उत्तम बनाना चाहिए। धर्म से संस्कृत जीवनवाला, सांसारिक ऋद्धि-सम्पदा का सुख भी भोग लेता है और फिर उसे इस प्रकार छोड देता है, जैसे मिश्री का रस लेकर मक्खी उड़ जाती है। मिश्री पर बैठने वाली मक्खी, मिश्री का रस तो ले लेती है, परन्तु उसमें लिपट कर प्राण नहीं देती। इसी प्रकार धर्म से संस्कृत जीवनवाला, संसार में रहकर मर्यादा सहित संसार के भोग भी भोग लेता है और फिर संसार को त्याग कर आत्म-

कल्याण में लग जाता है। संसार में फँस कर प्राण नहीं देता। लेकिन ऐसा तभी हो सकता है, जब धर्म को हृदय में स्थान दिया जावे। जिसके हृदय में धर्म का स्थान है, वह संसार में रहने पर भी संसार को अपना नहीं मानता, किन्तु संसार और आत्मा को पृथक् पृथक् देखता है। उसका यही विचार रहता है, कि 'संसार और आत्मा दो हैं, एक नहीं। यह संसार मुझे किसी प्रकार की सहायता नहीं दे सकता, जो मुझे दुःख न हो। बल्कि मैं इससे जितना अधिक प्रेम करूँगा, यह मेरे लिये उतना ही अधिक दुःखदायी होगा। अतः इस संसार को, सदा के लिये छोड़ देने में ही मेरा कल्याण है।' इस विचार से उसका ध्येय सदा यही रहता है, कि मैं संसार को त्याग कर आत्म-कल्याण में लगूँ।। सुबाहुकुमार में पहले आत्मकल्याण के भाव थे या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु धर्म सुनने के पश्चात् उसकी ऐसी भावना होना तो उसके चरित्र से प्रकट है।

भूतकाल के पुण्य-पाप आत्मा के साथ रहते हैं, इस बात का दिग्दर्शन भी इस कथा में कराया गया है। कथा में यह बताया गया है, कि आत्मा नित्य है, इसलिये इसके पुण्य-पाप इसके साथ ही रहते हैं। उस पुण्य-पाप को भोगने के लिये आत्मा, प्राकृतिक नियमों से बँधा हुआ है। अपनी समानता वाले को सभी चाहते हैं इसके अनुसार पाप तो पाप को चाहता है और पुण्य, पुण्य को। पाप, पाप की वृद्धि करता है और पुण्य, पुण्य की। पाप से, आत्मा को नाना प्रकार के कष्ट

होते हैं, बार-बार जन्म-मरण करना पड़ता है और पाप ही नर्क में गिराता है। इसके विरुद्ध पुण्य सुख दाता है। पुण्यानुबन्धी-पुण्य से धर्म प्राप्त होता है। धर्म प्राप्त होने पर, धीरे-धीरे वह मोक्ष प्राप्त होता है, जिसके लिये सुबाहुकुमार ने संयम लिया था। मोक्ष प्राप्त हो जाने पर न तो किसी प्रकार का कष्ट ही प्राप्त होता है, न जरा-मरण और जन्म का ही भय रहता है। इसीलिये शास्त्रकारों ने इस पुण्यानुबन्धी-पुण्य को, साधक दशा में उपादेय माना है।

इस कथा में यह भी बताया गया है, कि आत्मा का अन्तिम ध्येय क्या होना चाहिए और उस ध्येय तक कैसे पहुँच सकते हैं। आत्मा का ध्येय मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति के लिये, धर्म के संस्कारों को अपने में डालना आवश्यक है। जब तक आत्मा में धार्मिक-संस्कार नहीं होते, तब तक उसे अपने ध्येय का ही पता नहीं रहता। ध्येय का पता न होने से आत्मा ऐसे मार्ग का अनुसरण करता है, जिससे वह ध्येय से और दूर होता जाता है। इस प्रकार वह निरन्तर कष्ट में ही पड़ा रहता है। परन्तु हृदय में धर्म के संस्कार पड़ने पर, आत्मा को पुण्य-पाप आदि का ज्ञान हो जाता है। वह समझ जाता है, कि इसमें पुण्य है और इसमें पाप; तथा पुण्य से लाभ है और पाप से हानि। इस प्रकार जान लेने पर, वह पापों से बचता रहता है; बल्कि अपने पूर्व-पाप काटने के उपाय भी किया करता है। इससे आत्मा को अपना ध्येय मालूम हो जाता है, तथा वह उस ध्येय तक पहुँचने की चेष्टा करता है।

इस कथा में यह भी बताया गया है, कि ये सांसारिक सुख, वास्तविक सुख नहीं हैं; आत्मा भ्रम-वश इन्हें वास्तविक सुख मान रहा है। वास्तविक सुख तो संसार त्याग कर, मोक्ष प्राप्त करने में ही है।

इस कथा में माता-पिता का उस समय का कर्त्तव्य भी बताया गया है, जब पुत्र, संसार त्याग कर आत्मा का कल्याण करने का इच्छुक हो। यद्यपि सुबाहुकुमार, अपने माता-पिता का एक मात्र पुत्र था, फिर भी उसके माता पिता ने अपनी हठ रखने के लिये-मोह में पड़ कर-पुत्र को दीक्षा न लेने से जबरदस्ती नहीं रोका। उनने सुबाहुकुमार को दीक्षा लेने के लिये उतना ही कहा सुना, जितना कहने के लिये संतान-प्रेम विवश करता था।

इस कथा में विशेष महत्व की बात धर्मदान की है। धर्मदान का शुभ-फल परम्परा पर कैसा अच्छा होता है; और धर्मदान का योग प्राप्त करने के लिये, अपना जीवन कैसा रखना होता है; किन-किन बातों की तयारी करनी होती है- यह बताना ही इस कथा का प्रधान उद्देश्य है।

इन सब के सिवा आचार-विचार सम्बन्धी और भी बहुत बातों की शिक्षा इस कथा से प्राप्त होती है। इस कथा में वर्णित उत्तम बातों को यदि मनुष्य अपने जीवन में उतार ले तो उसका कल्याण होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। उसे आज नहीं तो सुबाहुकुमार की तरह क्रमशः मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है। अतः प्राणीमात्र का कर्त्तव्य है, कि इस कथा का मनन करके अपना कल्याण साधने की चेष्टा करें।

ॐ शान्ति शान्ति शान्ति

श्री साधुमार्गी जैन,

पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज

की सम्प्रदाय का हितेच्छु

श्रावक मण्डल रतलाम

का

परिचय

मण्डल की स्थापना।

इस मण्डल की स्थापना सम्वत १९७८ में उक्त सम्प्रदाय के मुख्य-मुख्य हितेच्छु श्रावकों द्वारा हुई थी।

उद्देश्य।

समाज के समस्त श्रावक श्राविकाओं और साधु साध्वियों में प्रेम-भाव की वृद्धि करना, आचार विचार को शुद्ध रखने का प्रयत्न करना तथा ज्ञान वृद्धि के कार्यों का सम्पादन करना।

नियम

(१) इस मण्डल के सदस्य वे ही सज्जन हो सकते हैं, जो पूज्य श्री १००८ श्री जवाहरलालजी महाराज की आम्नाय के अनुयायी हों, या पूज्य श्री पर जिनकी पूर्ण भक्ति हो और जो मण्डल के नियमों का भली भाँति पालन कर सकते हों।

(२) मण्डल के सदस्यों की निम्न तीन श्रेणी हैं—

(क) जो सज्जन एक साथ ५००) रुपया या इससे अधिक रुपया मण्डल के कोश में जमा करावेंगे, वे 'वंश परम्परा के सदस्य' होंगे।

(ख) जो सज्जन एक साथ १००) रुपये से अधिक और ५००) रुपये से कम मण्डल के कोश में जमा करावेंगे, वे 'आजीवन के सदस्य' होंगे।

(ग) जो सज्जन प्रतिवर्ष २) रुपये या इस हिसाब से कई वर्षों के लिए एक साथ रकम मण्डल के कोश में जमा करेंगे, वे 'साधारण सदस्य' होंगे।

(३) 'क' वर्ग के सदस्यों को, मण्डल की बैठक में सब प्रकार की सम्मति देने का अधिकार होगा। 'ख' वर्ग और 'ग'

वर्ग के सदस्यों को केवल द्रव्य की व्यवस्था के विषय में सम्मति देने का अधिकार न होगा। शेष अधिकार सब सदस्यों को समान होंगे।

(४) सदस्य तभी हो सकेंगे, जब मण्डल के कोश में रुपया जमा कर दें। रुपया जमा करने के पहिले सदस्यों में गणना न होगी।

व्यवस्था

(१) मण्डल के कार्य की व्यवस्था मण्डल की कमेटी द्वारा नियुक्त प्रेसीडेण्ट और सेक्रेटरी करते हैं। इस समय मण्डल का ऑफिस रतलाम में है और प्रेसीडेण्ट सेठ वरद्भानजी पीतल्या तथा सेक्रेटरी श्री० बालचन्द्रजी श्रीश्रीमाल हैं। ये दोनों सज्जन अवैतनिक रूप से कार्य संचालन करते हैं।

(२) मण्डल की बैठक में स्वीकृत नियमों के अनुसार कार्य होता है।

(३) मण्डल के कोश में जमा रकम का व्याज उपजाया जाता है। इस समय मण्डल के कोश में लगभग ३२०००) रु० हैं, जिसका व्याज लगभग १८००) रुपया वार्षिक आता है।

(४) मण्डल की वार्षिक बैठक आश्विन या और किसी

मास में अनुकूलतानुसार भिन्न-भिन्न स्थान पर होती है। उसमें गत वर्ष का हिसाब सदस्यों को बताया जाता है और आगामी वर्ष के लिए कार्यक्रम का निर्णय होता है।

(५) मण्डल की मासिक रिपोर्ट प्रतिमास के अन्त में **'निवेदन पत्र'** नाम से प्रकाशित होती है। यह रिपोर्ट मण्डल के प्रत्येक सदस्य के पास पहुँचाई जाती है। इसमें मण्डल के कार्य के ब्योरे के साथ-साथ सन्त सतियों की तपस्या विहार उपकार आदि के समाचार भी रहते हैं। सदस्यों से इस रिपोर्ट का कोई मूल्य नहीं लिया जाता।

कार्यक्रम

(१) पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज चातुर्मास में जो व्याख्यान फरमाते हैं, उनका संग्रह कराया जाता है और शेष आठ महीनों में उन व्याख्यानों में से पुस्तकों का सम्पादन कराकर पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। पुस्तकों की छपाई आदि तो पुस्तकों के मूल्य से निकल आती है, शेष व्याख्यान के संग्रह और पुस्तकों के सम्पादन आदि कार्य में लगभग १०००) रुपया प्रति वर्ष मण्डल के कोश से व्यय होता है।

(२) उदयपुर ज्ञान पाठशाला को ३०) रुपया मासिक सहायता दी जाती है।

(३) खाचरोद विद्यालय को २००) रुपया मासिक सहायता दी जाती है। शेष २००) रु० मासिक की सहायता श्री सेठ हीरालाल जी खाचरोद वाले स्वयं अपने पास से करते हैं।

ये तीनों कार्य बहुत उपयोगी हैं।

धार्मिक परीक्षा बोर्ड

इस समाज में और खासकर इस मंडल के सदस्यों की तरफ से कई एक ज्ञानोन्नति विषयक संस्थाएँ (विद्याभवन) चल रही हैं, परन्तु उनका निरीक्षण करके उत्साह बढ़ाने वाली परीक्षाबोर्ड जैसी समिति की कमी थी। वह मंडल ने "धार्मिक परीक्षा बोर्ड" कायम करके पूर्ण की है। गत वर्ष (सं० १९८६ में) इस संस्था से करीब १७५ विद्यार्थियों ने लाभ लिया था और बहुत से विद्यार्थी उत्तीर्ण होकर अभ्यास में आगे बढ़े हैं। मंडल ने सभी उत्तीर्ण विद्यार्थियों को पारितोषिक व प्रमाणपत्र दिये हैं।

अपील

मण्डल के कोष में जो धन है, वह इतना कम है कि उसके सूद से मण्डल का व्यय पूरा नहीं पड़ता। इसलिये मण्डल के मूल धन में से लगभग ८००) रुपये प्रति वर्ष व्यय हो जाते हैं। ऐसी दशा में यह संस्था कब तक चल सकेगी, यह विवेकीजन भली प्रकार समझ सकते हैं। धन की कमी के कारण और भी कई उपयोगी कार्य रुके हुए हैं। इस समाज में अनेक धनी और उदार सज्जनों के होते हुए, उनके समाज की एक मात्र संस्था इस शोचनीय दशा में रहे, इससे अधिक खेद की बात क्या होगी। **अतः हम धर्मानुरागी सम्प्रदाय के अनुयायी एवं हितैषी सज्जनों से अपील करते हैं कि वे इस संस्था के सदस्य बन कर इसे चिरस्थायी बनाने में सहायक हों।**

मण्डल का प्रकाशन

पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के व्याख्यानों में से अब तक निम्न पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

१ **श्रावक का अहिंसा व्रत**। इस पुस्तक में

हिंसा अहिंसा के भेद, हिंसा के कारण और उनसे बचने के उपाय तथा हिंसा के अतिचारों का भली प्रकार दिग्दर्शन कराया गया है। मूल्य।) मात्र

(२) सकडाल पुत्र श्रावक की कथा। इस पुस्तक में गृहस्थ श्रावक की भावनाएँ उनकी कार्यशैली आदि का ज्ञान कराया गया है। मूल्य सजिल्द पुस्तक का ।≈) मात्र

(३) धर्म व्याख्या। इस पुस्तक में गृहस्थ श्रावक को उनके धर्मों का भली प्रकार ज्ञान कराया गया है और यह भी बताया गया है कि वे राज नीति में कहाँ तक भाग ले सकते हैं। विना मूल्य।

(४) श्रावक का सत्यव्रत। इस पुस्तक में सत्य असत्य के भेद, सत्य से क्या लाभ हैं और झूठ से क्या हानि है, शास्त्र के प्रमाणोंसहित बताया गया है। साथ ही असत्य के अतिचार भी बताये गये हैं। मूल्य ≥) मात्र।

(५) हरिश्चन्द्र-तारा। इस पुस्तक की प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाना है। ३५० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ।) मात्र।

पुस्तकें मिलने का पता—

१—सेक्रेटरी श्री साधुमार्गी-जैन पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक-मण्डल रतलाम

२—पं० शंकरप्रसादजी दीक्षित (जहां पूज्यश्री जवाहिरलालजी महाराज विराजमान हों)

३—सेठ अगरचंदजी भैरोंदानजी सेठिया बीकानेर

मण्डल से प्राप्त होने वाली पुस्तकें।

श्रावक का अहिंसा व्रत	।)
सकडालपुत्र श्रावक	।)
धर्मव्याख्या	विना मूल्य
सत्यव्रत	≡)
सत्यमूर्त्ति हरिश्चन्द्र-तारा	।)
श्रावक का अस्तेय व्रत	=)
सुबाहुकुमार	।)
श्रावक का ब्रह्मचर्य व्रत (छप रहा है)	
पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का जीवन चरित्र	॥)
अनुकम्पा विचार	॥)
वैधव्य दीक्षा	–)
शालिभद्र चरित्र (तीनों भाग)	।≡)
मिल के वस्त्र और जैन धर्म	–)
जैन धर्म में मातृ पितृ सेवा	–)
आदर्श क्षमा	–)॥

डाक व्यय सबका पृथक् है।

मिलने का पता—

जैन-हितेच्छु श्रावक-मण्डल

रतलाम (मालवा)